आचार्य वामदेव विरचित

भावसंग्रह

॥ श्री चन्द्रप्रभजिनेन्द्राय नमः ॥

युग–प्रमुख, चारित्र–शिरोमणि, सन्मार्ग दिवाकर, आचार्य
श्री विमलसागरजी महाराज

हीरक जयन्ती वर्ष

के उपलक्ष में प्रकाशित

पुष्प नं. ५०

भाव संग्रह

आचार्य वामदेव विरचित

अनुवादक :
डा. रमेशचन्द जी बिजनौर

सानिध्य :
परम पूज्य, ज्ञान दिवाकर, उपाध्याय मुनि
श्री भरतसागरजी महाराज

निर्देशन :
परम पूज्या आर्यिका स्याद्वादमतिजी माताजी

अर्थ सहयोगी :
श्री श्रीपाल गणेशलाल जी बिलाला
अकोला (महाराष्ट्र)

प्रकाशक :
भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

॥ श्री पार्श्वनाथाय नमः ॥

ग्रन्थ का नाम—भाव संग्रह

प्रबन्ध सम्पादक—ब्र. पं. धर्मचन्दजी शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य
एवं
कु. ब्र. प्रभा पाटणी

प्रकाशक—भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्रति—१०००

प्रथम संस्करण

प्राप्ति स्थान १. आचार्य विमलसागरजी संघ
२. अनेकान्त सिद्धांत समिति, लोहारिया
जिला (बांसवाड़ा) राजस्थान
३. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, गुलाब वाटिका, दिल्ली।

वीर निर्वाण सम्वत्-

द्रव्य दाता—श्री श्रीपाल गणेशलाल बिलाला
अकोला (महाराष्ट्र)

मूल्य— ५०/-

मुद्रक—ललित कला प्रिन्टर्स,
लालजी सांड का रास्ता, जयपुर-3 फोन : 76110

समर्पण

चारित्र शिरोमणि

सन्मार्ग दिवाकर

करुणा निधि

वात्सल्य मूर्ति

अतिशय योगी—

तीर्थोद्धारक चूड़ामणि—

अपाय विचय धर्मध्यान के ध्याता

शान्ति-सुधामृत के दानी

वर्तमान में धर्म पतितों के उद्धारक

ज्योति पुञ्ज—

पतितों के पालक

तेजस्वी अमर पुञ्ज

कल्याणकर्त्ता, दुःखों के हर्ता, समदृष्टा

बीसवीं सदी के अमर सन्त

परम तपस्वी, इस युग के महान साधक

जिन भक्ति के अमर प्रेरणास्रोत

पुण्य पुञ्ज

गुरुदेव आचार्यवर्यश्री 108

श्रीविमलसागर जी महाराज के कर-कमलों में

"ग्रन्थराज"

समर्पित

विमल वन्दना

तुभ्यं नमः परम धर्म प्रभावकाय ।

तुभ्यं नमः परम तीर्थ सुवन्दकाय ।।

स्याद्वाद सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय ।

तुभ्यं नमः विमल सिन्धु गुणार्णवाय ।।

।। आशीर्वाद ।।

उपाध्याय मुनि श्री भरतसागर जी

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज का हीरक जयन्ती वर्ष हमारे लिए एक स्वर्णिम अवसर लेकर आया है। तीर्थंकरों की वाणी स्याद्वाद वाणी का प्रसार सत्य का प्रचार है।

असत्य को उखाड़ना है तो असत्य का नाम भी मुख से न निकालो सत्य स्वयं ही प्रस्फुटित हो सामने आयेगा।

वर्तमान में कुछ वर्षों से जैनागम को धूमिल करने वाला एक श्याम सितारा ऐसा चमक गया कि सत्य पर असत्य की चादर थोपने लगा। वह है एकान्तवाद, निश्चयाभास।

असत्य को अपना रंग चढ़ाने में देर नहीं लगती, यह कटु सत्य है। कारण जीव के मिथ्यासंस्कार अनादिकाल से चले आ रहे हैं। फलत: पिछले ७०–८० वर्षों में एकान्तवाद ने जैन का टीका लगाकर निश्चयनय की आड़ में स्याद्वाद को कलंकित करना चाहा। घर-घर में मिथ्याशास्त्रों का प्रचार किया! आचार्य कुन्दकुन्द की आड़ में अपनी ख्याति चाही और भावार्थ बदल दिये, अर्थ का अनर्थ कर दिया।

बुधजनों ने अपनी क्षमता से मिथ्यात्व से लोहा लिया पर अपनी तरफ से जनता को सत्य साहित्य नहीं दिया। आर्यिका स्याद्वादमती जी ने इस हीरक जयन्ती वर्ष में एक नया निर्णय आचार्य श्री व हमारे सानिध्य में लिया कि "असत् साहित्य को हटाने के पूर्व, हमारा आगम जन-जन के सामने रखें अनेक योजनाओं में से एक मुख्य योजना सामने आई आचार्य प्रणीत ७५ ग्रन्थों का प्रकाशन हो। जिनागम का भरपूर प्रकाशन हो, सूर्य का प्रकाश जहां होगा श्याम सितारा वहां क्या करेगा। सत्य का मण्डन करते जाइए असत्य का खण्डन स्वयं होगा। असत्य को निकालने के पूर्व सत्य को थोपना आवश्यक है।

ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ जिन भव्यात्माओं ने अपनी स्वीकृतियाँ दी हैं, परोक्ष प्रत्यक्ष रूप से सहायता दी है सबको हमारा आशीर्वाद है।

卐 संकल्प 卐

"णाणं पयासं सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार केवल ज्ञान का बीज है। आज कलयुग में ज्ञान प्राप्ति की तो होड़ लगी है, पद्वियाँ और उपाधियाँ जीवन का सर्वस्व बन चुकी हैं परन्तु सम्यग्ज्ञान की ओर मनुष्यों का लक्ष्य ही नहीं है।

जीवन में मात्र ज्ञान नहीं सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है। आज तथाकथित अनेक विद्वान् अपनी मनगढ़न्त बातों की पुष्टि पूर्वाचार्यों की मोहर लगाकर कर रहे हैं, ऊटपटांग लेखनियां सत्य की श्रेणी में स्थापित की जा रही है, कारण पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज सहज सुलभ नहीं है और उनके प्रकाशन व पठन-पाठन की जैसी और जितनी रुचि अपेक्षित है, वैसी और उतनी दिखाई नहीं देती।

असत्य को हटाने के लिए पर्चेबाजी करने या विशाल सभाओं में प्रस्ताव पारित करने मात्र से कार्य सिद्ध होना अशक्य है। सत्साहित्य का प्रचुर प्रकाशन व पठन-पाठन प्रारम्भ होगा, असत् का पलायन होगा। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए आज सत्साहित्य के प्रचुर प्रकाशन की महती आवश्यकता है:—

यनंते विढलन्ति वादिगिरयस्तुष्यन्ति वागीश्वराः
भव्या येन विदन्ति निवृतिपद मुञ्चंति मोहं बुधाः।
यद् बन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधार भूतं मतं,
तल्लोकजयशुद्धिदं जिनवचः पुष्पाद् विवेकश्रियम् ॥

सन् १९८४ से मेरे मस्तिष्क में यह योजना बन रही थी परन्तु तथ्य यह है कि 'संकल्प के बिना सिद्धि नहीं मिलती।" सन्मार्ग दिवाकर आचार्य १०८ श्री विमल सागर जी महाराज की हीरक जयन्ती के मांगलिक अवसर पर माँ जिनवाणी की सेवा का यह सङ्कल्प मैंने प. पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री व उपाध्याय श्री के चरण सानिध्य में लिया। आचार्य श्री व उपाध्याय श्री का मुझे भरपूर आशीर्वाद प्राप्त हुआ। फलत: इस कार्य में काफी हद तक सफलता मिली है।

इस महान् कार्य में विशेष सहयोगी पं. धर्मचन्दजी व प्रभाजी पाटनी रहे। इन्हें व प्रत्यक्ष-परोक्ष में कार्यरत सभी कार्यकर्त्ताओं के लिए मेरा पूज्य गुरुदेव के पावन चरण-कमलों में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति पूर्वक नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु।

सोनागिर, ११-७-९०

—आर्यिका स्याद्वादमती

आभार

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैयोक्यचूड़ामणि ।
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्‌घोतिका ॥
सद्‌रत्नत्रयधारिणो यतिवरांस्तेषां समालम्बनं ।
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः सात्राज्जिनः पूजितः ॥

वर्तमान में इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान इस भरत क्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं तथापि समस्त भरत क्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान की वाणी मौजद है तथा उस वाणी के आधार स्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनि भी हैं। इसलिये उन मुनियों की सरस्वती की पूजन है तथा सरस्वती की पूजन साक्षात् केवली भगवान की पूजन है ।

आर्य परम्परा की रक्षा करते हुए आगम पथ पर चलना भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है । तीर्थंकर के द्वारा प्रत्यक्ष देखी गई, दिव्यध्वनि में प्रस्फुटित तथा गणधर द्वारा गूंथित वह महान आचार्यों द्वारा प्रसारित जिनवाणी की रक्षा प्रचार प्रसार मार्ग प्रभावना नाम एक भावना तथा प्रभावना नामक सम्यग्दर्शन का अंग है ।

युगप्रमुख आचार्य श्री के हीरक जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य में हमें जिनवाणी के प्रसार के लिए एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ । वर्तमान युग में आचार्य श्री ने समाज व देश के लिए अपना जो त्याग और दया का अनुदान दिया है वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा । ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे सानिध्य या नेतृत्व प्रदाता पूज्य उपाध्याय श्री भरतसागरजी महाराज व निर्देशिका तथा जिन्होंने परिश्रम द्वारा ग्रन्थों की खोजकर विशेष सहयोग दिया ऐसी पूज्या आ. स्यादवादमती माताजी के लिए मैं सत-सत नमोस्तु-वन्दामि अर्पण करती हूँ। साथ ही त्यागीवर्ग, जिन्होंने उचित निर्देशन दिया उनको शत-शत नमन करती हूँ । तथा ग्रन्थ के सम्पादक महोदय, श्रीमान् ब्र. पं. धर्मचन्दजी शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य, तथा ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अनुमति प्रदाता ग्रन्थमाला एवं ग्रन्थ प्रकाशनार्थ अमूल्य निधि का सहयोग देने वाले द्रव्यदाता का मैं आभारी हूँ तथा यथासमय शुद्ध ग्रन्थ प्रकाशित करने वाले आदि का मैं आभारी हूँ । अन्त में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से सभी सहयोगियों के लिए कृतज्ञता व्यक्त करते सत्य जिन शासन की जिनागम की भविष्य में इसी प्रकार रक्षा करते रहें ऐसी भावना करती हूँ ।

कु० प्रभा पाटनी संघस्थ

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग में मानव के अस्तित्व को ही नहीं अपितु प्राणी मात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान "अहिंसा" अमोघअस्त्र से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म-संस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिन-वाणी का सार भी है।

तीर्थंकरों के मुख से निकली वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने निबद्ध किया, जो आज हमें जिनवाणी के रूप में प्राप्त है। इस जिन-वाणी का प्रचार-प्रसार इस युग में अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे आराध्य पूज्य आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण निरन्तर जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं।

उन्हीं पूज्य आचार्यों में से एक है सन्मार्ग दिवाकर, चारित्र-चुड़ामणि परम-पूज्य आचार्यवर्य विमलसागरजी महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणी-मात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय में प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का प्रकाशन हो और मन्दिरों में स्वाध्याय हेतु रखे जायें जिसे प्रत्येक श्रावक पढ़कर मोह रूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सके।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का शासन निरन्तर अबाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान में रखकर परम-पूज्य, ज्ञान-दिवाकर, वाणी भूषण, उपाध्यायरत्न भरतसागरजी महाराज एवं आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माताजी की प्रेरणा व निर्देशन में परम-पूज्य आचार्य विमलसागरजी महाराज की ७५वीं जन्म जयन्ति हीरक जयन्ति वर्ष के रूप में मनाने का संकल्प समाज के सम्मुख भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद ने लिया। इस हीरक जयन्ति वर्ष में निम्नलिखित प्रमुख योजनायें क्रियान्वित करने का निश्चय किया, तदनुरूप ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा है। योजनान्वित ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है;—

१ सिद्धचक्र विधान, २. विमल भक्ति–संग्रह, ३ रयणसार, ४. धर्ममार्गसार, ५. आराधना कथा कोष, ६. अष्ट पाहुड, ७. पञ्चास्तिकाय, ८. पंच स्त्रोत, ९ तत्वानुशासन, १०. चर्चासार, ११ सुधर्म–श्रावकाचार, १२. सम्यक्त्व–कौमुदी, १३. परीक्षामुख, १४. क्षत्र–चूड़ामणि, १५. समयसार, १६. योग–सार, १७. नीति-सार समुच्चय, १८. परमात्म–प्रकाश, १९. न्याय–दीपिका, २०. शान्ति–सुधा सिन्धु, २१. इन्द्रनन्दी नीतिसार, २२. इष्टोपदेश, २३. समाधितन्त्र, २४. वरांग चरित्र, २५. भरतेश वैभव, २३. वैराग्य मणिमाला, २७. स्वरूप सम्बोधन, २८. श्रुतावतार, २९. अमितगति श्रावकाचार, ३०. आत्मानुशासन, ३१. स्वयंभू स्त्रोत, ३२. द्रव्य–संग्रह, ३३. धर्म रसायन, ३४. सार–समुच्चय, ३५. प्रश्नोत्तर श्रावका–चार, ३६. आलाप पद्धति, ३७. मदन पराजय, ३८. वसुनन्दी श्रावकाचार, ३९. धर्मशर्माभ्युदय. ४०. सागार धर्मामृत, ४१. बोधामृत सार, ४२ पांडव पुराण, ४३. नयचक्र, ४४. जीवक चिन्तामणि, ४५ अभयकुमार चरित्र, ४६. आप्तमीमांसा, ४७ मन्दरमेरु पुराण, ४८. युक्त्यानुशासन, ४९. प्रतिष्ठा पाठ, ५० भाव–संग्रह वामदेव, ५१. लघु तत्वस्फोट, ५२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ५३. अमरसेन–चरयू, ५४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (प्रश्नोत्तर), ५५. धर्मरत्नाकार, ५६. प्रमेय रत्नमाला, ५७. यशस्तिलक चम्पू, ५८. सिद्धान्त सार, ५९. तत्वार्थवृत्ति, ६०. ज्ञानामृत, ६१ श्रावक धर्म प्रदीप, ६२. [illegible]णिक चरित्र, ६३. अमृताशीत, ६४. अंगपण्णत्ति, ६५. पार्श्व पुराण, ६६. मल्लिनाथ पुराण, ६७. विमलनाथ पुराण, ६८. नेमिनाथ पुराण, ६९. प्रवचन सार, ७०. सुभाषित रत्नावली, ७१. धन्यकुमार चरित्र, ७२. सिद्धिप्रिय स्त्रोत, ७३. सार-चतुर्विंशितिका, ७४. जम्बूस्वामी चरित्र ।

७५ ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना के साथ ही साथ भारत के बिभिन्न नगरों में ७५ धार्मिक शिक्षण शिविरों का आयोजन किया जा रहा है और ७५ पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही है । इस ज्ञान यज्ञ में पूर्ण सहयोग करने वाले ७५ पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही है । इस ज्ञान यज्ञ में पूर्ण सह-योग करने वाले ७५ विद्वानों का सम्मान एवं ७५ युाव विद्वानों को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा ७७७५ युवा वर्ग से सप्तव्यसन का त्याग कराना आदि योजनाएं इस हीरक जयन्ती वर्ष में पूर्ण की जा रही है ।

सम्प्रति आचार्यवय पूज्य विमलसागरजी महाराज के प्रति देश एवं समाज अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ उनके चरणों में शत-शत ननोऽस्तु करके दीर्घायु की कामना करता है । ग्रन्थों के प्रकाशन में जिनका अमूल्य निर्देशन एवं मार्गदर्शन

मिला है वे पूज्य उपाध्याय भरतसागर जी महाराज एवं माता स्याद्वादमतीजी हैं। उनके लिए मेरा क्रमश: नमोऽस्तु एवं वन्दामि अर्पण है।

उन विद्वानों का आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में अनुवादक/सम्पादक एवं संशोधक के रूप में सहयोग दिया है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन दाताओं ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चञ्चला लक्ष्मी का सदुपयोग करके पुण्यार्जन किया उनको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। यह ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशित हुए एतदर्थ उन प्रेस संचालकों को जिन्होंने बड़ी तत्परता से प्रकाशन का कार्य किया। अन्त में उन सभी सहयोगियों का आभारी हूं जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष में सहयोग प्रदान किया है।

ब्र० पं० धर्मचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष
भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद

पुरोवाक्

भाव संग्रह दो शब्दों से मिलकर बना है–भाव और संग्रह। भाव शब्द का अर्थ परिणाम है। जीवों के भिन्न-भिन्न परिणामों का संग्रह चौदह गुणस्थानों में हो जाता है। इस ग्रन्थ में चूँकि गुणस्थानों के वर्गीकरण के आधार पर वर्णन किया गया है, अतः इसका भावसंग्रह नाम सार्थक है। शुभ भावों का आश्रय लेने से पुण्य और अशुभ भावों का आश्रय लेने से पाप होता है। शुभाशुभ भावों का जब परित्याग हो जाता है तो निर्विकल्पयने की स्थिति हो जाती है। इस स्थिति में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का विकल्प नहीं रहता है। संसार में स्थित जीवों के शुभ और अशुभ गतियों को प्रदान करने वाले ये पाँच भाव हैं–१. औशमिक, २. क्षायिक, ३. मिश्र, ४. औदयिक और ५. पारिणामिक।

उपशम–नीचे स्थित कीचड़ के समान अनुद्भूतस्ववीर्य की वृत्ति से कर्मों का उपशमन होना औपशमिक भाव है। जैसे–कतकफल या निर्मली के डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना उपशम है।

क्षय—कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति को क्षय कहते हैं। जैसे जिस जल का मैल नीचे बैठा हो, उसे यदि दूसरे पवित्र पात्र में रख दिया जाये तो उसमें अत्यन्त निर्मलता आ जाती है, उसी प्रकार आत्मा से कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति होने से जो आत्यन्तिक विशुद्धि होती है, वह क्षय कहलाता है।

मिश्र -क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों के समान उभयात्मक परिणाम को मिश्रभाव कहते हैं। जैसे जल से प्रक्षालन करने पर कुछ कोदों की मदशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ की अक्षीण। उसी प्रकार यथोक्त क्षय के कारणों के सन्निधान होने पर (परिणामों की निर्मलता से) कर्मों के एकदेश का क्षय और एकदेश कर्मों की शक्ति का उपशम होने पर उभयात्मक मिश्र भाव होता है।

उदय—द्रव्यादि के निमित्त के वश से कर्मों के फल की प्राप्ति का नाम उदय है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से विपच्यमान कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं।

परिणाम—द्रव्यात्मक लाभ मात्र हेतु परिणाम है। जिस भाव के द्रव्यात्म लाभ मात्र ही हेतु होता है, अन्य किसी भी कर्म के उपशम आदि की अपेक्षा नहीं है, वह परिणाम कहलाता है।

प्रयोजन होने से वृत्ति "इकण" प्रत्यय से शब्द बनते हैं जैसे–उपशम जिसका जिसका प्रयोजन है, वह औपशमिक भाव। कर्मों का क्षय जिसमें प्रयोजनभूत है वह क्षायिक भाव। क्षय एवं उपशम होने से क्षायोपशमिक। इसी प्रकार औदयिक और पारिणामिक हैं।[1]

भावसंग्रह में इन्हीं भावों का वर्णन है। किस गुणस्थान में कैसे कैसे भाव होते हैं, यह बतलाया गया है।

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयत, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्त कषाय, क्षीणमोह, सयोगकेवलि और अयोगकेवलि ये चौदह गुणस्थान होते हैं।[2] इन चौदह गुणस्थानों को छोड़कर लोकोत्तम सिद्ध होते हैं।[3]

मिथ्यात्व कर्म के उदय से इस जीव के औदयिक भाव प्रकट होते हैं तथा मिथ्यात्व कर्म के उदय होने से प्रकट हुए औदयिक भावों से इस जीव के मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है।[4]

सामान्यतया जैन ग्रन्थों में मिथ्यात्व के पाँच भेद किए गए हैं—१. विपरीत, २. एकान्त, ३. विनय, ४. संशय और ५. अज्ञान। वामदेव ने मिथ्यात्व की संसार में पाँच प्रकार से विद्यमानता बतलायी है—१. वेदान्त, २. क्षणिकत्व, ३. शून्यत्व, ४. वैनयिक और ५. अज्ञान।

---

१. तत्वार्थवार्तिक २/१ २. वामदेव : भावसंग्रह २१–२३ ३. वही–२४
४. देवसेनाचार्य: भावसंग्रह–१२

आचार्य देवसेन ने ब्रह्म मत को विपरीत मिथ्यात्व बतलाया है।[1] इसी कारण वामदेव ने विपरीत मिथ्यात्व नाम से विभाजन न कर प्रारम्भ में वेदान्त का उल्लेख किया है। एकान्तवाद का उदाहरण क्षणिकवाद है, अतः अन्य उदाहरणों को न लेकर वामदेव ने केवल क्षणिकत्व को लिया है, यद्यपि सदैकान्त, असदैकान्त, भावैकान्त, अभावैकान्त, अवाच्यतैकान्त, दैवेकान्त, पुरुषार्थैकान्त ज्ञानैकान्त, अज्ञानैकान्त इत्यादि अनेक भेदरूप एकान्तवाद होता है। संभवतः शून्यवाद को वामदेव ने संशयवाद का उदाहरण मानकर उसका पृथक् ग्रहण किया है।

जो लोग जलस्नान से आत्मा की शुद्धि मानते हैं, मांसभक्षण से पितृवर्ग की तृप्ति मानते हैं, पशुओं का वध करने वा पशुओं का होम करने से स्वर्ग की प्राप्ति मानते हैं और गाय की योनि का स्पर्श करने से धर्म की प्राप्ति मानते हैं, इन सबमें धर्म की विपरीतता किस प्रकार है, यह भावसंग्रह में दिखलाया गया है।

पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में कहा गया है कि आत्मा तो स्वभाव से अत्यन्त पवित्र है। इसलिये उस उत्कृष्ट आत्मा के विषय में स्नान व्यर्थ ही है तथा शरीर स्वभाव से अपवित्र ही है इसलिये वह कभी भी उस स्नान के द्वारा पवित्र नहीं हो सकता है। इस प्रकार स्नान की व्यर्थता दोनों ही प्रकार से सिद्ध होती है। फिर भी जो लोग उस स्नान को करते हैं, वह उनके लिए करोड़ो पृथिवीकायिक, जलकायिक एवं अन्य जीवों की हिंसा का कारण होने से पाप और राग का ही कारण होता है।[2] संसार में वह कोई तीर्थ नहीं है, वह कोई जल नहीं है तथा अन्य भी कोई वस्तु नहीं है, जिसके द्वारा पूर्ण रूप से अपवित्र यह मनुष्य का शरीर प्रत्यक्ष में शुद्ध हो सके। आधि (मानसिक कष्ट), व्याधि (शारीरिक कष्ट), बुढ़ापा और मरण आदि से व्याप्त यह शरीर निरन्तर इतना सन्ताप कारक है कि सज्जनों को उसका नाम लेना भी असह्य प्रतीत होता है। यदि इस शरीर को प्रतिदिन समस्त तीर्थों के जल से भी स्नान कराया जाय तो भी वह शुद्ध नहीं हो सकता है, यदि उसका कपूर व कुंकुम आदि उबटनों के द्वारा निरन्तर लेपन भी किया जाय तो भी वह दुर्गन्ध को धारण करता है तथा यदि इसकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा भी की जाय तो भी वह क्षय के मार्ग में ही प्रस्थान करने वाला अर्थात् नष्ट होने वाला है। इस प्रकार जो शरीर सब प्रकार से दुःख देने वाला है, उससे अधिक प्राणियों को और दूसरा

---

१. "विपरीतो भवति पुनः ब्राह्मः"—देवसेनाचार्य : भावसंग्रह–१६

२. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका २५/२

कौनसा अशुभ व कौनसा कष्ट हो सकता है ? अर्थात् प्राणियों को सबसे अधिक अशुभ व कष्ट देने वाला यह शरीर ही है, अन्य नहीं है ।[1]

मनुस्मृति में कहा है – अग्निहोत्री ब्राह्मण अमावस्या के दिन पितृयज्ञ को करके प्रत्येक मास 'पिण्डान्वाहार्यक' नामक श्राद्ध करे ।[2] विद्वान लोग पितरों के मासिक श्राद्ध को अन्वाहार्य नामक श्राद्ध कहते हैं । वह प्रयत्नपूर्वक प्रशस्त मांस से करना चाहिये ।[3]

गरुडपुराण के ९६ वें अध्याय में लिखा है कि जो मनुष्य श्राद्ध में देवों तथा पितरों को मांस से भोग लगाकर स्वयं पीछे से माँस खाता है, वह सीधा स्वर्गलोक को जाता है । उसके मार्ग में कोई बाधा नही पड़ती ।[4]

उपर्युक्त मत के विपरीत जैनों का कहना है कि यदि किसी एक पुरुष के गुण या दोष से कोई दूसरा जीव स्वर्ग, नरक जाता है तो फिर कहना चाहिये कि जो पुरुष स्वयं पुण्य वा पाप करता है, उसका फल उसको नहीं मिल सकता ।[5] यह यह जीव मरकर तत्क्षण अन्य देह को धारण कर लेता है तो पितृत्व किसके उत्पन्न हुआ, अतः पितरों की उत्पत्ति कहना व्यर्थ है ।[6]

मनुस्मृति में कहा है —

यथार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ।।५/३९

ब्रह्माजी ने यज्ञ के लिए पशुओं को स्वयं बनाया है और यज्ञ सबके कल्याण के लिए है । इसलिए यज्ञ में पशुवध नहीं है ।

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्य ब्रवीन्मनुः ।। मनु. ५/४१

---

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका २५/६–७ २. मनुस्मृति ३/१२२

३. पितृणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ।
तच्चामिषेण कर्त्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः ।। वही ३/१२३

४. पं. कैलाशचन्द्र जैन शास्त्री द्वारा लिखित भारतीय धर्म एवं अहिंसा पृ. ३५ से उद्धृत ५. देवसेनः भावसंग्रह ३६ ६. वामदेवः भावसंग्रह ५२

मधुपर्क में, यज्ञ में और देव-पितृ कर्म में यहां ही पशुओं को मारना चाहिये, अन्यत्र नहीं।

एष्वर्थेषु पशून्हिंसन् वेदतत्वार्थ विद्द्विजः।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम्॥ मनु. ५/४२

इन (मधुपर्क-श्राद्ध आदि) कर्मों में पशुओं को मारता हुआ वेद के तत्वार्थ को जानने वाला ब्राह्मण अपने को और पशु को उत्तम गति में पहुँचाता है।

इसके उत्तर में स्याद्वाद मंजरी में कहा गया है कि हिंसा करने से यदि स्वर्ग की प्राप्ति होवे तो नरक नगर के दरवाजे ढ़क जाये। अर्थात् फिर नरक में कोई भी नहीं जावेगा[1]। सांख्य कहते हैं-

यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिर कर्द्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते[2]॥

वेदोक्त प्रकार से यज्ञ के स्तम्भ को छेदकर, पशुओं को मारकर और रुधिर से पृथ्वी में कीचड़ मचाकर यदि यज्ञ के कर्त्ता स्वर्ग में जावेंगे तो फिर नरक में कौन जायेगा?

वामदेव का कहना है कि जो यज्ञ के लिए मारा जाता है, उसका मांस खाने वाले तथा वह, ये सब यदि स्वर्ग जाते हैं तो पुत्र, बंधू आदि से यज्ञ क्यों नहीं करते हैं, ताकि सब स्वर्ग चले जाय[3]।

गोयोनि की वन्दना भी मिथ्या श्रद्धान है। यदि गाय इतनी पवित्र हैं तो फिर उसे क्यों बांधा जाता है? क्यों दुहा जाता है और बड़ी लकड़ी लेकर क्यों उसे मारते हो?

गो के आलंभन का अनेक वैदिक ग्रंथों में उल्लेख आता है। मेघदूत में कालिदास ने चर्मण्वती नदी के विषय में कहा है कि यह रन्तिदेव की कीर्तिरूप है।

---

१. यदि हि हिंसयाऽपि स्वर्ग प्राप्तिः स्यात्तीर्ह बाढ़ं पिहिता नरकपुर प्रतोल्यः स्याद्वाद मंजरी पृ. ८२। २. पृ. ८२ ३. भाव संग्रह ६१-६२।

यह रन्तिदेव द्वारा किए गए सुरभितनया (गायों) के आलम्भन (वलिदान) से पृथ्वी पर नदी रूप में प्रवाहित हुई[1]।

वेदवादी ब्रह्मा को जगत् का कर्त्ता, शिव को जगत् का संहारक तथा विष्णु को जगत् का रक्षक मानते हैं। इन तीनों मान्यताओं का खण्डन जैन न्याय के ग्रन्थों में किया गया है। कुछ युक्तियां इस प्रकार हैं—

शरीरादिक बुद्धिमान् निमित्तकारणजन्य नहीं हैं, क्योंकि उनका उसके साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं है। अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही कार्यकारण भाव सुप्रतीत होता है।

यदि ईश्वर की सृष्टि इच्छा से जगत् रूप कार्य की उत्पत्ति मानें तो प्रश्न होता है कि वह इच्छा नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो ईश्वर की तरह उसकी इच्छा के साथ भी व्यतिरेक नहीं बनता है, क्योंकि उसका सदैव सद्भाव रहने से शरीरादिक कार्यों की उत्पत्ति होती रहेगी। यदि इच्छा अनित्य मानी जाय तो वह इच्छा पूर्वक उत्पन्न होगी और वह इच्छा भी अन्य पूर्व इच्छा से उत्पन्न होगी। इस तरह कहीं भी अवस्थान न होगा।

ईश्वर जो स्वत: वीतराग है, का जब तक कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, तब तक उसको वास्तविक कर्त्ता मानना युक्त नहीं है।

यदि जगत् के प्राणी अनेकानेक प्रकार की क्रियाओं में स्वेच्छा से प्रवृत्त होते हैं तो प्राणियों के क्रियाकलाप का कर्त्ता ईश्वर को कहना व्यर्थ है।

पण्डित वामदेव ने भी इस सम्बन्ध में कुछ तर्क दिए हैं प्रमुख रूप से जिनका आधार वैदिक पुराणों की मिथ्या मान्यतायें हैं। जैनों के अनुसार यह विश्व अनादि और अकृत्रिम है।

यदि विष्णु संसार का रक्षक है तो प्रश्न होते हैं—

१. सबको अपने उदर के मध्य में स्थित कर विष्णु संरक्षण करता है तो वह विष्णु कहाँ ठहरता है ? (भावसंग्रह ११४–११५)

१– व्यालम्बेथा: सुरभितन यालम्भजां मानयिष्यन्।
स्त्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४५॥

२. निर्विकार के दश जन्म नहीं हो सकते। (भावसंग्रह–१२०)

यदि रुद्र तीनों लोकों को भस्म करते हैं तो वह गंगा और गौरी के साथ कहाँ रहते हैं ? (भाव सं. १२२)

सम्पूर्ण विश्व को जला देने वाला पूज्यतत्व को कैसे प्राप्त होता है (भा. सं. १२३)

क्षणिकैकान्त वादी बौद्ध सब कुछ क्षणिक मानते हैं। उनके द्वारा समस्त वस्तुओं को क्षणिक मानने में निम्नलिखित दोष आते हैं

१. एक अभाव रूप वस्तु कभी भाव रूप नहीं बनती।

२. क्षणभङ्गवाद को मानने पर स्मरण आदि को असंभव मानना पड़ेगा।

३. यह वही शिष्य है तथा यह वही गुरु है, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं होगा।

४. अपने किए हुए काम का फल भोगने की सम्भावना नहीं रहेगी। यदि कहा जाय कि वासक मन द्वारा किए गए काम का फल वास्य मन भोगता है तो इसका उत्तर यह है कि क्षणभङ्गवाद में वास्य-वासक भाव ही असंभव है; क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई भी विकल्प संभव नहीं है। वासना वासक मन से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तब तो वासक मन वासना से शून्य हुआ। ऐसी दशा में वह किसी अन्य मन को वासित नहीं कर सकता। यदि वासना वासक मन से अभिन्न है तब इस वासना का वास्य मन में प्रवेश उसी प्रकार असंभव होगा, जैसे कि वासक मन के स्वरूप का वास्य मन में प्रवेश असंभव है।

५. क्षणिक वस्तु में अर्थक्रियाकारिता सम्भव नहीं है; क्योंकि एक क्षणिक वस्तु अपनी उत्पत्ति के तत्काल बाद नष्ट हो जाती है।

६. जगत् की वस्तुओं में दिखाई देने वाले रूप रूपान्तरण से भी क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि सदा इन वस्तुओं में नए रूप की उत्पत्ति होते समय भी उनका पुराना रूप ज्यों का त्यों बना रहता है (हरिभद्र सूरि: शास्त्रवार्तासमुच्चय)।

७ नित्य क्षणिक वादियों के संयम, नियम, दान, करुणा तथा व्रत भावना सर्वथा घटित नहीं होती है (भाव सं. १३६)

८. क्षणिकवाद में बन्ध और मोक्ष घटित नहीं होता है। (भाव सं. १३७)

जैन दृष्टि से जीव नित्य है, पर्यायें अनित्य हैं। अनित्य पर्यायों का आश्रय लेने से अर्हन्तदेव ने जीव की कथंचित् अनित्यता मानी है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है।

चार्वाक कहते हैं कि भूतयोगात्मिका शक्ति चैतन्य कही जाती है, जिस प्रकार गीले आटे और गुड़ादि से मदशक्ति उत्पन्न होती है। इस पर जैनों का कहना है कि यदि काय का परिणमन पृथिव्यादिकों के मिलने से ही हो जाता है तो सदा क्यों नहीं रहता है? कभी कभी क्यों होता है? यदि पृथिव्यादिकों के अतिरिक्त और कोई भी कारण है तो वह आत्मा ही है।

यदि चैतन्य उत्पन्न होने का आत्मरूप एक विशेष कारण न होता हो तो किसी स्थान में ज्ञान होता है और किसी में नहीं, ऐसा नियम नहीं हो सकेगा।

भूतों से आत्मा की उत्पत्ति हो तो मैं गौरवर्ण हूं, इत्यादि प्रतीति अन्तरङ्ग की तरफ ही क्यों होती है? बाहर की तरफ ही होनी चाहिए।

उपयोग यदि भूतों का ही धर्म अथवा कार्य हो तो प्रत्येक को उसका अनुभव होना चाहिए तथा विजातीय पदार्थ से भी विजातीय की उत्पत्ति होनी चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। (स्याद्वाद मंजरी)

पूर्वजन्म का स्मरण होने से, गमनागमन का निश्चय होने से, पृथक् पृथक् सादृश्य से जीव है, यह निश्चय होता है (भाव सं. १५८)

तापस लोग कहते हैं कि समस्त जीव शिवात्मक हैं, अत: मोक्षसाधक को उनकी बिनय करना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि जो प्रधान (अङ्गी) शिव-स्वरूप है तो वन्दना करने वाला शिवस्वरूप क्यों नहीं होगा? जब तुम्हारे और शिव में समानता है तो कौन किसके द्वारा वन्दना के योग्य होगा (भा. सं. १६०–६१)

मस्करीपूरण का कहना है कि अज्ञान से मोक्ष होता है। उसका यह कहना मिथ्यात्व है; क्योंकि उस ज्ञानहीन के यह बन्धु है, पिता है, माता है, बहिन है प्रिया है. इस प्रकार की प्रर्थकक्रया कठिनाई से घटित हो सकती है।

अज्ञान मिथ्यात्व का निराकरण करने के बाद पण्डित वामदेव ने श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति बतलाते हुए उसकी समीक्षा की है। समीक्षा के प्रमुख विषय स्त्री-मुक्ति तथा केवलीमुक्ति है। श्वेताम्बर कहते हैं कि स्त्रियों को मोक्ष होता हैं, क्योंकि मोक्ष के अविकल कारण उनमें भी होते हैं, जैसे पुरुष के होते हैं। दिगम्बरों के अनुसार मोक्ष के कारणभूत जो ज्ञानादि गुण हैं, उनका परम प्रकर्ष स्त्रियों में नहीं होता है; क्योंकि वह परम प्रकर्ष है, जैसे सप्तम पृथ्वी में जाने के कारणभूत पाप का परम प्रकर्ष स्त्रियों में नहीं पाया जाता है। स्त्रियों का संयम मोक्ष का हेतु नहीं है, क्योंकि स्त्रियों में नियम से ऋद्धि विशेष के अहेतुत्व की अन्यथानुपपत्ति है, अर्थात् ऋद्धि के कारणभूत संयम भी स्त्रियों के नहीं है तो मोक्ष का कारणभूत संयम कैसे हो सकता है ? स्त्रियों के सवस्त्र संयम है, अतः मोक्ष का हेतु नहीं है, जैसे गृहस्थ का संयम नहीं है। वस्त्र ग्रहण करने पर उसको सीना, धोना, सुखाना, रखना, उठाना तथा चोर के ले जाने पर मन में क्षोभ होना इत्यादि असंयम की बातें हो जाने से संयम किस प्रकार पल सकता है ? स्त्रीवेद एक अशुभकर्म है; क्योंकि स्त्रीवेद को लेकर सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है।

श्वेताम्बर जैन अरहंत अवस्था में भगवान के भोजन ग्रहण होना मानते हैं। उनका कहना है कि बिना भोजन के कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक उत्कृष्ट रूप से केवली का शरीर टिक नहीं सकता। उनका यह कथन सिद्ध नहीं होता है। भगवान केवलज्ञानी के परम औदारिक शरीर है, हम जैसे का सामान्य औदारिक नहीं। उक्त शरीर के लिए प्रतिक्षण दिव्य, सूक्ष्म, महानपुष्टिकारक नोकर्माहार रूप परमाणु आया करते हैं, इन्हीं से उनका शरीर अवस्थित रहता है। केवली के राग द्वेष का सर्वथा अभाव होता है, अतः वह भोजन नहीं करते, भोजन तो इच्छापूर्वक किया जाता है तथा जब उनके अनन्तवीर्य का सद्भाव है तो भोजन से प्रयोजन भी क्या रहता है ? मोहनीय कर्म का क्षय होने पर क्षुधा, पिपासा आदि समर्थ नहीं होती हैं। अतः द्रव्य कर्मो के आश्रय से उनका अस्तित्व उपचार से है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि मिथ्यात्व अनेक रूपों में विद्यमान है, जिसका जैन ग्रन्थों में निराकरण किया गया है।

2 सासादन गुणस्थान—आदि उपशम सम्यक्त्व रत्न रूपी पर्वत से च्युत हुआ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक का उदय होने पर जब तक एक समय से छः आवली काल तक जीव मिथ्यात्व रूपी भूतल पर नहीं जाता है, तब तक सासादन गुणस्थान होता है (भाव सं. २९७-२९८)

3 मिश्र गुणस्थान—दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ है–मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। इनमें से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिश्र गुणस्थान होता है। इसमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं तथा वे परिणाम सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों से सम्मिलित रूप होते हैं (देवसेनः भाव सं. १९८)। इस गुणस्थान में रहने वाले जीव के भाव न तो सम्यक्त्व रूप होते हैं और न मिथ्यात्व रूप होते हैं, किन्तु इन दोनों से मिले हुए इन दोनों से भिन्न तीसरे ही प्रकार के होते हैं।

4 अविरत सम्यग्दृष्टि—जो स्वाभाविक अनन्त ज्ञान आदि अनन्त गुण का आधारभूत निज परमात्म द्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि परद्रव्य त्याज्य हैं, इस तरह सर्वज्ञ देव प्रणीत निश्चय व व्यवहार नय को साध्य-साधक भाव से मानता है, परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध आदि अप्रत्याख्यानकषाय के उदय से मारने के लिए कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भाँति आत्मनिन्दादि सहित होकर इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है, यह 'अविरत सम्यग्दृष्टि' चौथे गुणस्थानवर्ती का लक्षण है। (बृहद् द्रव्य सं गाथा-१३)

५–देशविरत—पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि होकर भूमिरेखादि के समान क्रोधादि अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषायों के उदय का अभाव होने पर अन्तरंग में निश्चय नय से एकदेश राग आदि से रहित स्वाभाविक सुख के अनुभव लक्षण तथा बाह्य विषयों में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इनके एकदेश त्याग रूप पांच अणुव्रतों में और दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग रूप श्रावक के एकादश स्थानों में से किसी एक में बर्तने वाला है, वह पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक होता है।

६–प्रमत्त संयत—जब वही सम्यग्दृष्टि धूलि की रेखा के समान क्रोध आदि प्रत्याख्यानावरण तीसरी कषाय के उदय का अभाव होने पर निश्चय नय से

अन्तरङ्ग में राग आदि उपाधिरहित, निज शुद्ध अनुभव से उत्पन्न सुखामृत के अनुभव लक्षण रुप और बाहरी विषयों में सम्पूर्ण रुप से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के त्याग रुप पांच महाव्रतों का पालन करता है, तब बुरे स्वप्न आदि प्रकट तथा अप्रकट प्रमाद सहित होता हुआ छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त संयत होता है।

७–अप्रमत्त संयत वही जल रेखा के तुल्य संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर प्रमाद रहित जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है, उसमें मद उत्पन्न करने वाले व्यक्त, अव्यक्त प्रमादों से रहित होकर सप्तम गुणस्थानवर्ती 'अप्रमत्त संयत" होता है।

८–अपूर्वकरण—अतीव संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर अपूर्व परम आह्लाद एक सुख के अनुभव रुप अपूर्वकरण में उपशमक या क्षपक नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती होता है।

९-अनिवृत्तिकरण—देखे, सुने और अनुभव किए हुए भोगों की वांछादि रुप सम्पूर्ण संकल्प तथा विकल्प रहित अपने निश्चल परमात्म रुप के एकाग्र ध्यान के परिणाम से जिन जीवों के एक समय में परस्पर अन्तर नहीं होता। वे वर्ण तथा संस्थान के भेद होने पर भी अनिवृत्तिकरण उपशमक क्षपक संज्ञा के धारक, अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय आदि इक्कीस प्रकार की चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण में समर्थ नवम गुणस्थानवर्ती जीव हैं।

१०–सूक्ष्म साम्पराय— सूक्ष्म परमात्मतत्त्व भावना के बल से जो सूक्ष्म-कृष्टि रुप लोभ कषाय के उपशमक और क्षपक हैं वे दशम गुणस्थानवर्ती हैं।

११–उपशान्त कषाय— परम उपशम मूर्ति निज आत्मा के स्वभाव अनुभव के बल से सम्पूर्ण मोह का उपशम करने वाले ग्यारहवें उपशान्त कषाय गुणस्थानवर्ती होते हैं।

१२–क्षीण कषाय—उपशम श्रेणी से भिन्न क्षपक श्रेणी के मार्ग से कषाय रहित शुद्ध आत्मा की भावना के बल से जिनके समस्त कषाय नष्ट हो गए हैं, वे बारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं।

१३–सयोग केवली—मोह के नाश होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल में ही निज शुद्ध आत्मानुभव रुप एकत्व वितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान में स्थिर होकर उसके अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों को एक साथ एक काल में सर्वथा निर्मूल करके मेघपटल से निकले हुए सूर्य के समान सम्पूर्ण निर्मल केवल ज्ञान किरणों से लोक अलोक के प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती 'जिनभास्कर' होते हैं।

१४–अयोग केवली—मन, वचन, काय वर्गणा के अवलम्बन से कर्मों के ग्रहण करने में कारण जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द रुप योग है, उससे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती "अयोगी जिन" होते हैं।

(वृहद् द्रव्य संग्रह ब्रह्मदेव टीका–गाथा–१३)

भाव संग्रह के कर्ता

भाव संग्रह संज्ञक दो कृतियां प्राप्त होती हैं। इनमें से पहली के रचयिता आचार्य देवसेन थे। ये विमल सेन गणी के शिष्य थे। इन्होंने धारानगरी में निवास करते हुए भगवान पार्श्वनाथ के मन्दिर में माघ सुदी दशमी विक्रम संवत् ९९० में दर्शनसार ग्रन्थ की रचना की। इनकी अन्य कृतियाँ हैं—१. आराधनासार २. तत्वसार तथा ३. नयचक्र आदि।

आचार्य वामदेव ने द्वितीय भावसंग्रह की रचना की। प्रथम भाव संग्रह प्राकृत गाथामय है तो द्वितीय भाव संग्रह संस्कृत पद्य में है। वामदेव अपनी रचना के लिए भाव, भाषा, विषयानुक्रम, प्रतिपाद्य विषय आदि सभी दृष्टि से आचार्य देवसेन के ऋणी हैं। अनेक स्थानों पर यह प्राकृत भाव संग्रह का संस्कृत अनुवाद प्रतीत होता है, यद्यपि वामदेव ने स्थान-स्थान पर परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किया है। उक्तं च कहकर गीता आदि के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

इन्होंने नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के त्रिलोकसार को देखकर त्रैलोक्य दीपक ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ रचना पुखाड वंश के कामदेव की प्रेरणा से हुई। भाव संग्रह के अतिरिक्त इनकी निम्नलिखित रचनायें और प्राप्त होती हैं—१. प्रतिष्ठा सूक्ति संग्रह २. तत्वार्थसार ३. त्रैलोक्यदीपक ४. श्रुतज्ञानोद्यापन ५. त्रिलोकसार पूजा और ६. मन्दिर संस्कार पूजा आदि।

आभार प्रदर्शन

सन्मार्ग दिवाकर प्रातः स्मरणीय आचार्य श्री १०८ विमल सागरजी महाराज की ७५वीं जन्म जयन्ती पर पूज्य श्री १०८ उपाध्याय भरतसागरजी महाराज एवं आर्यिका रत्न स्याद्वादमती माताजी प्रभृति साधु एवं साध्वी समुदाय की प्रेरणा से समाज के कर्मठ कार्यकर्ताओं ने जिनवाणी को प्रकाश में लाने हेतु प्राचीन आचार्यों और लेखकों के ७५ ग्रन्थ प्रकाशित करने का दृढ़ संकल्प किया। तदनुसार ज्योतिषाचार्य ब्र. धर्मचन्द्र शास्त्री मेरे पास भाव संग्रह की मूल प्रति लेकर आए और उसका हिन्दी अनुवाद करने की प्रेरणा की। उनसे प्रेरित होकर मैंने अनुवाद प्रारम्भ किया।

पूज्य उपाध्याय श्री १०८ भरत सागरजी महाराज तथा आर्यिका स्याद्वादमती माताजी ने इसे आद्योपान्त देखकर आवश्यक संशोधन करने की कृपा की तथा उन्हीं की प्रेरणा से यह ग्रन्थ सानुवाद प्रकाश में आ रहा है। एतदर्थ मैं पूज्य आचार्य श्री विमल सागरजी महाराज तथा समस्त साधु समुदाय का आभारी हूँ। इस प्रकार के सुन्दर कार्यों के संयोजन के लिए ब्र. धर्मचन्दजी एवं ब्रह्मचारिणी प्रभा पाटनी को बधाई देता हूँ। प्रतिलिपी करने में मदद करने हेतु अनुज सुरेन्द्रकुमार जैन ने मदद की उन्हें शुभाशीर्वाद। जैन जयतु शासनम्।

—डा. रमेश चन्द जैन
बिजनौर

श्रीमद्वामदेवपण्डित विरचितो

भावसंग्रहः

श्रीमद्वीरं जिनाधीशं मुक्तीशं त्रिदशार्चितम् ।
नत्वा भव्यप्रबोधाय वक्ष्ये ऽहं भावसंग्रहम् ॥१॥

जो जिनों के अधीश हैं, मुक्ति के स्वामी हैं तथा जिनकी देवगण अर्चना करते हैं, उन शोभा से युक्त वीर (भगवान्) को नमस्कार करके भव्यजनों को जाग्रत करने के लिए (मैं) भाव संग्रह (ग्रन्थ) को कहता हूँ ।

भावा जीव परीणामा जीवा भेदद्वयाश्रिताः ।
मुक्ताः संसारिणस्तन्न मुक्ताः सिद्धाः निरत्ययाः ॥२॥

जीव के परिणामों को भाव कहते हैं । जीव के दो भेद हैं–मुक्त और संसारी । उनमें से मुक्त जीव सिद्ध और अविनाशी हैं ।

कर्माष्टक विनिर्मुक्ता गुणाष्टक विराजिताः ।
लोकाग्रवासिनो नित्या ध्रौव्योत्पत्ति व्ययान्विताः ॥३॥

वे (सिद्ध जीव) आठ कर्मों से रहित, आठ गुणों से सुशोभित, लोक के अग्र भाग पर निवास करने वाले, नित्य तथा उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त हैं ।

ये च संसारिणो जीवाश्चतुर्गतिषु संततम् ।
शुभाशुभपरीणामैर्भ्रमन्ति कर्मपाकतः ॥४॥

जो संसारी जीव हैं, वे शुभ और अशुभ परिणामों से कर्म के परिपाक वश चारों गतियों में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं।

शुभभावा श्रयात्पुण्यं पापं त्वशुभभावतः ।
ज्ञात्वैवं सुमते ! तद्धि यच्छ्रेयस्तं समाश्रय ॥५॥

शुभ भावों का आश्चर्य लेने से पुण्य और अशुभ भावों का आश्रय लेने से पाप होता है, इस बात को जानकर हे बुद्धिमान् ! तुम जो कल्याणकारी है, उसका आश्रय लो।

भावास्ते पंचधा प्रोक्ताः शुभाशुभगति प्रदाः ।
संसारवर्तिजीवानां जिनेन्द्रै ध्वस्तिकल्मषैः ॥६॥

पापों का नाश करने वाले जिनेन्द्र भगवान ने संसार में स्थित जीवों के शुभ और अशुभ गतियों को प्रदान करने वाले पाँच भाव कहे हैं।

आधो ह्यौपशमो भावः क्षायिको मिश्रसंज्ञकः ।
भावो ऽस्त्यौदयिक श्चतुर्थः पंचमः पारिणामिकः ॥७॥

प्रथम औपशमिक, द्वितीय क्षायिक, तृतीय मिश्र, चतुर्थ औदयिक तथा पंचम पारिणामिक भाव है।

स्यात्कर्मोपशो पूर्वः क्षायिकः कर्मणांक्षये ।
क्षायोपशमिको भावः क्षयोपशम संभवः ॥८॥

कर्मों के उपशम होने पर औपशमिक भाव, क्षय होने पर क्षायिक भाव तथा क्षयोपशम होने पर क्षायोपशमिक भाव होता है।

कर्मोदयाद्भवो भावो जीवस्योदयिकस्तु यः ।
स्वभावः परिणामः स्यात्तद्भवः पारिणामिकः ॥९॥

कर्म के उदय से जीव का जो औदयिक भाव, स्वभाव या परिणाम होता है, उसे पारिणामिक भाव कहते हैं ।

द्वौ नवाष्टाद शैकार्ग्रविंशतिश्च त्रयस्तथा ।
इत्यौप शमिकादीनां भावनां भेद संग्रहः ॥१०॥

औपशमिक भाव के दो क्षायिक के नौ, क्षायोपशमिक के अठारह, औदयिक के इक्कीस तथा पारिणामिक के तीन भेद होते हैं ।

स्यादुपशम सम्यक्त्वं चारित्रं च तथाविधम्[1] ।
इत्यौपशमिको भावो भेदद्वय मुपागतः ॥११॥

औपशमिक भाव के दो भेद हैं (१) औपशमिक सम्यक्त्व और (२) औपशमिक चारित्र ।

सम्यक्त्वं दर्शनं ज्ञानं वृत्तं दानादिपंचकम् ।
स्वस्वकर्मक्षयोद्भूतं नवैते क्षायिके भिदः ॥१२॥

अपने-अपने कर्म के क्षय से उत्पन्न सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये नौ भेद क्षायिक भाव के हैं ।

द्विकलं—

दर्शनत्रयमाधं च ज्ञानचतुष्कमादिमम् ।
क्षयोपशम सम्यक्त्वं त्र्यज्ञानं दानपंचकम् ॥१३॥

रागोपयुक्त[2]चारित्रं संयमा संयमस्त्विवति ।
अष्टादश प्रभेदाः स्युः क्षायोपशमिके अञ्जसा ॥१४॥

---

१ औपशमिकं । २ सरागसंयमं ।

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद होते हैं—तीन प्रकार का दर्शन (चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन तथा अवधि दर्शन), चार प्रकार का ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय) क्षयोपशम सम्यक्त्व, तीन प्रकार का अज्ञान (कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि), क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सरागचारित्र और संयमा संयम ये क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं।

चतस्रो गतयो वामं[1] त्रयो वेदास्त्व संयमः ।
लेश्या षट्कमसिद्धत्वं चत्वारश्च कषायकाः ॥१५॥

अज्ञानत्वेन संयुक्ताः प्रभेदा एकविंशतिः ।
औदयिकस्य भावस्य निर्दिष्टा भाववेदिभिः ॥१६॥

चार गतियाँ, मिथ्यादर्शन, तीन वेद, असंयम, छः प्रकार की लेश्यायें असिद्धत्व, चार प्रकार की कषायें तथा अज्ञान ये सब मिलकर २१ भेद भावों को जानने वालों ने औदयिक भाव के निर्दिष्ट किए हैं।

अभव्यत्वं च भव्यत्वं जीवत्वं च त्रयः स्मृताः ।
पारिणामिक भावस्य भेदा गणधरैः स्फुटम् ॥१७॥

अभव्यत्व और भव्यत्व तथा जीवत्व ये तीन भेद पारिणामिक भाव के गणधरों ने स्पष्ट रूप से कहे हैं।

मिथ्यादित्रिषु मिश्रा[2] धास्त्रयो ह्यसंयतादिषु ।
चतुर्षु चोपशांतेषु चतुर्षु निखिला पृथक् ॥१८॥

---

१ मिथ्यादर्शनं। २ मिश्रौदयिक परिणामिकाः।

मिथ्यात्वादि तीन गुणस्थानों में मिश्र, औदयिक और पारिणामिक भाव होते हैं। असंयतादि चार तथा चार उपशान्तों में समस्त भाव पृथक्-पृथक् रूप से होते हैं।

आद्यं विना चतुर्भावाः क्षपकश्रेणिसंभवाः ।
विनौपशमिकं मिश्रं त्रयः स्युर्योग्ययोगिनोः ॥१९॥

औपशमिक के अतिरिक्त चार भाव क्षपक श्रेणी में संभव हैं। सयोगकेवली व अयोगकेवली के औपशमिक और मिश्र के बिना तीन भाव होते हैं।

सिद्धे द्वावेव जायेते क्षायिकः पारिणामिकः ।
गुणस्थानान्यतो वक्ष्ये तल्लक्षण लक्षितम् ॥२०॥

सिद्धों के क्षायिक और पारिणामिक दो ही भाव होते हैं। गुणस्थान तथा उनके लक्षण मैं आगे कहूंगा।

मिथ्या सासादनं नाम मिश्रं मसंयताह्वयम् ।
विरताविरताख्यं स्यात् प्रमत्तं चाप्रमत्तकम् ॥२१॥

अपूर्वकरणाभिख्यं ततोऽनिवृत्तिसंज्ञकम् ।
सूक्ष्मलोभात्मकं तस्मादुपशान्तकषायकम् ॥२२॥

क्षीणमोहं सयोगाख्यमयोगिस्थानमन्तिमम् ।
एतानि गुणस्थानानि प्रभवन्ति चतुर्दश ॥२३॥

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयत, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्तकषाय, क्षीणमोह, सयोगकेवलि और अयोगकेवलि ये चौदह गुणस्थान होते हैं।

एतैस्त्यक्ताः प्रजायन्ते सिद्धा लोकोत्तमोत्तमाः ।
स्वशुद्धात्मसुखानन्दरसास्वादनतत्पराः ॥२४॥

इन चौदह गुणस्थानों को छोड़कर लोकोत्तमोत्तम सिद्ध उत्पन्न होते हैं। वे सिद्ध अपने शुद्ध आत्मसुख के आनन्द रूपी रस के आस्वादन में तत्पर रहते हैं।

तत्राद्यं यदगुणस्थानं मिथ्यात्वंनाम जायते।
पंचा[1]नां दृष्टिमोहाख्य[2]कर्मणामुदयोद्भवम् ॥२५॥

आदि का मिथ्यात्व गुणस्थान दर्शनमोह नामक पंचकर्मों के उदय से उद्भूत होता है।

विशेष—मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ की दर्शनमोह संज्ञा है। इनमें मिश्र और सम्यक्त्व के मिलने से सातों की भी दर्शनमोह संज्ञा होती है। कहा भी है—

एकधात्रिविधा वा स्यात्कर्ममिथ्यात्वसंज्ञकम्।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कं च सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥

तत्रस्त्यौदयिको भावो मिथ्यात्वकर्मोदभवः।
मुख्यतस्तद्वशाज्जन्तोर्वैपरीत्यं प्रजायते ॥२६॥

वहां पर मिथ्यात्व कर्म से उत्पन्न औदयिक भाव है। मुख्यतः उसके वश प्राणी के विपरीतता उत्पन्न होती है।

अदेवेदेवताबुद्धिरतत्त्वे तत्वनिश्चयः।
मिथ्यात्वाविलचित्तस्य जीवस्य जायते तथा ॥२७॥

---

१ सप्तानां। २ मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धि चतुष्कं चेति पंचानां दृष्टिमोह संज्ञा मिश्रसम्यक्त्वकर्मानुमेलने च सप्नानामपि। तदुक्तं—

एकधा त्रिविधा वा स्यात्कर्म मिथ्यात्वसंज्ञकम्।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कं च सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥

मिथ्यात्व से मलिन (दूषित) चित्त वाले जीव की बुद्धि अदेव के प्रति देव के रूप में तथा अतत्त्व के प्रति तत्त्व के रूप में हो जाती है ।

मधुरं जायते तीक्ष्णं तीक्ष्णं च मधुरायते ।
पित्तज्वरार्त्तजीवस्य वैपरीत्यं यथाखिलम् ॥२८॥

जिस प्रकार पित्तज्वर के दुःख से दुःखी जीव को मीठी वस्तु भी कड़वी और कड़वी वस्तु भी मीठी लगती है, इसी प्रकार मिथ्यात्वी के सब कुछ विपरीत हो जाता है ।

मद्यमोहाद्यथा जीवो न जानात्यहितं हितम् ।
धर्माधर्मौन जानातिमिथ्यावासनया तथा ॥२९॥

जिस प्रकार मद्य के मोह से जीव अहित और हित को नहीं जानता है, उसी प्रकार मिथ्या वासना से धर्म और अधर्म को नहीं जानता है ।

मिथ्यादृष्टे[1]र्न रोचेत जैनं[2] वाक्यं निवेदितम् ।
उपदिष्टानुपदिष्टमतत्वं रोचते स्वयम् ॥३०॥

मिथ्यादृष्टि को उपदिष्ट जैन वाक्य रुचिकर नहीं लगता । उसे उपदिष्ट, अनुपदिष्ट अतत्त्व स्वयं रुचिकर लगते है ।

तन्मिथ्यात्वं जिनैः प्रोक्तं पंचधैकान्तवादतः ।
अतोऽहं क्रमशो वच्मि तत्तद्वादविकल्प[3]नम् ॥३१॥

उस मिथ्यात्व के जिनेन्द्रदेव ने एकान्तवाद आदि पांच भेद किये हैं । अतः मैं उन वादों के भेद क्रमशः कहता हूं ।

---

१ अत्र हिन चतुर्थी यदारोचेत तदा चतुर्थी यदातुन रोचेत तदा तु षष्ठयेव ।

२ जनवाक्यं ख. । ३ नां ख. ।

वेदान्तं क्षणिकत्वं च शून्यत्वं विनयात्मकम् ।
अज्ञानं चेति मिथ्यात्वं पंचधावर्तते भुवि ।।३२।।

मिथ्यात्व संसार में पाँच प्रकार से विद्यमान है–१. वेदान्त २. क्षणिकत्व ३. शून्यत्व ४. वैनयिक ५. अज्ञान ।

वेदवादीवदत्येवं विपरीतं तु मूढधीः ।
जलस्नानाद्भवेच्छुद्धिः पितृणां मांसतर्पणम् ।।३३।।

गोयोनिस्पर्शनाद्धर्मः स्वर्गाप्तिर्जीवघातनात् ।
इत्यादिदुर्घटोत्कट्यं वेदवादिमते मतम् ।।३४।।

मूढ बुद्धि वाले वेदवादी इस प्रकार विपरीत कहते हैं कि जल स्नान से शुद्धि होती है, पितरों का मांस से तर्पण होता है, गोयोनि के स्पर्श से धर्म होता है, जीवों के घात से स्वर्ग प्राप्ति होती है । इत्यादि दुर्घट उत्कट्य वेदवादियों के मत में मानी गई हैं ।

यद्यम्[1]बु स्नानतोदेही कृतपापाद्धि मुच्यते ।
तदा याति सदा सर्वे जीवास्तोयसमुद्भवाः ।।३५।।

यदि जल में स्नान करने से शरीरधारी प्राणी किए हुए पाप से मुक्त हो जाते तो जल से उत्पन्न सभी प्राणी स्वर्ग चले जाते ।

यदर्जितं पुरा पापं जीवैर्योगत्रयाश्रयात् ।
कथं ते त्र विमुंचन्ति तीर्थतोयावगाहनात् ।।३६।।

मन, वचन, काय को प्रवृत्ति रूप योगों के आश्रय से पूर्व-काल में जीवों ने जो पाप का उपार्जन किया है, वे जीव

---

१ अत्र हि यमुद्देशं वेदवादी स्वीकृत्य जीवशुद्धिं मन्यते तस्याः सोद्देशाया निषेधः क्रियते न तु संहितादौ विहितस्य लौकिकस्य गृहस्तस्नानस्य ।

इस संसार में तीर्थों के जल में स्नान करनें से कैसे मुक्त हो जायेंगे ।

उक्तं च गीतायां[1]—

गीता में कहा है—

अरण्ये निर्जले क्षेत्रे अशुचिब्राह्मणःमृतः ।
वेदवेदांगतत्त्वज्ञः कां गीत स गमिष्यति ॥१॥

यद्यसौ नरकं याति वेदाः सर्वे निरर्थकाः ।
यदि[2] चेत्स्वर्गमाप्नोति जलशौचं निरर्थकं ॥२॥

वेद और वेदाङ्ग के तत्त्व को जानने वाला अशुचि ब्राह्मण वन में जलहीन क्षेत्र में मरा । वह मरकर किस गति को जायगा ? यदि वह नरक में जाता है तो समस्त वेद निरर्थक हैं । यदि वह स्वर्ग को पाता है तो जल में पवित्र होना निरर्थक है ।

इन्द्रियविषयासक्ताः कषायैं रंजिताशयाः ।
न तेषां स्नानतः शुद्धिगृहिव्यापारवर्तिनाम् ॥३७॥

गृहकार्य में लगे हुए, इन्द्रिय के विषयों में आसक्त तथा कषायों से रंजित हृदय वालों की स्नान से शुद्धि नहीं हो सकती ।

तीर्थाम्बुस्नानतः शुद्धि ये मन्यन्ते जडाशयाः ।
परिभ्रमन्ति संसारे नानायोनिसमाकुले ॥३८॥

जो जड़बुद्धि तीर्थों के जल में स्नान करने से शुद्धि मानते हैं, वे नाना योनियों से व्याप्त संसार में भ्रमण करते हैं ।

---

१ अस्याग्रे "श्लोकौ" इति–ख–पाठः । २ अथ स्वर्गमवाप्नोति ख. ।

तपसा जायतेशुद्धिर्जीवस्येन्द्रियनिग्रहात् ।
सम्यक्त्वज्ञानयुक्तस्य वह्निना कनकं यथा ।।३६।।

सम्यक्त्व और ज्ञान से युक्त जीव की इन्द्रियनिग्रह के कारण तप से शुद्धि होती है । जिस प्रकार स्वर्ण की शुद्धि अग्नि से होती है ।

द्विकलम्—

व्रतशीलदयाधर्मगुप्तित्रयमहीयसाम् ।
सद्ब्रह्मचर्यनिष्ठानां स्वात्मैकाग्रचेतसाम् ।।४०।।

स्वाभावाशुचिदेहस्य संभवेऽपिप्रजायते ।
विशुद्धत्वं यतीशानां जलस्नानं विना सदा ।।४१।।

जो व्रत, शील, दया, धर्म और तीन प्रकार की गुप्तियों से महान् हैं, जो उत्तम ब्रह्मचर्य में निष्ठा रखते हैं और अपनी आत्मा के प्रति एकाग्रचित हैं, उनकी स्वभाव से अशुचिदेह होने पर भी जलस्नान के बिना विशुद्धि होती है ।

उक्तं च गीतायाम्[1]

गीता में कहा है—

अत्यन्त मलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं दृष्ट्वा कस्य शौचं विधीयते ।।१।।

आत्मानदीसंयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मि ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ।।२।।

शरीर अत्यन्त अपवित्र है और आत्मा अतिपवित्र है । दोनों के अन्तर को देखकर किसकी पवित्रता धारण करें ?

---

१ अस्याग्रे 'श्लोकौ' इति–ख. पाठः ।

आत्मा नदी है, उसमें संयम रूपी जल भरा हुआ है, सत्य को धारण करने वाले शोल रूप जिसके तट और दया रूपी लहरें हैं। हे पाण्डुपुत्र ! तुम उसमें स्नान करो। अन्तरात्मा जल से शुद्ध नहीं होती है।

तस्माच्छुद्ध प्रपद्यन्ते जिनोद्दिष्टाध्वकोविदाः।
भव्याः स्वात्मसुखानन्दस्यन्दतोयावगाहनात् ॥४२॥

अतः जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए मार्ग को जानने वाले भव्य जीव स्वात्म सुख के आनन्द रूपी प्रवाह में अवगाहन करने से शुद्ध हो जाते हैं।

इति तीर्थस्नानदूषणम्।

मांसेन पितृवर्गस्य प्रीणनं यैर्विधीयते।
भक्षितं तैर्निजं गोत्रं ईदृशी श्रुतिकोविदैः ॥४३॥

वेद के जानकार मांस के द्वारा जो पितरों को प्रसन्न करते हैं। उन्होंने अपने गोत्र का ही भक्षण कर लिया।

स्वकर्मफलपाकेन गोत्रजाः पशुतां गताः।
श्राद्धार्थं घातनात्तेषां किन्न स्यात्तत्पलादनम् ॥४४॥

गोत्र में उत्पन्न लोग अपने कर्म फल के परिपाक से पशुत्व को प्राप्त हुए। श्राद्ध के लिए उनका वध करने से क्या उनके मांस का भक्षण नहीं होगा ?

कथंचित्पशुतां प्राप्तः पिता[1] स्वकर्मपाकतः।
हत्वा तमेव तन्मांसं तत्तृप्त्यैर्भक्षितं भवेत् ॥४५॥

---

१. पिताऽथ कर्मपाकतः ख।

कदाचित् यदि पिता अपने कर्म के परिपाक से पशुत्व को प्राप्त हो गया तो उसे मारकर उसका मांस उसी की तृप्ति के लिए होगा ।

बकनामा द्विजस्तस्य पिता मृत्वा मृगोऽभवत् ।
तच्छ्रा[1]द्धे तत्पलं[2] दत्त्वा द्विजेभ्यस्तेन भक्षितम् ।।४६।।

बक नामक ब्राह्मण का पिता मरकर मृग हो गया । उसके श्राद्ध में उसी (मृग) का मांस देकर ब्राह्मणों ने उसे ही खा लिया ।

श्रुत्वाप्येवं पुराणोक्तं सुप्रसिद्धं कथानकम् ।
तथाप्यज्ञाः प्रकुर्वन्ति पितृणां[3] मांसतर्पणम् ।।४७।।

पुराणों में कहे गए इस सुप्रसिद्ध कथानक को सुनकर भी अज्ञानी लोग पितरों के लिए मांसतर्पण करते हैं ।

मांसाशिनोन पात्रं स्युर्मांसदानं न चोत्तमम् ।
तत्पितृभ्यः कथं तृप्त्यै भुक्तं मांसा शिभिर्भवेत् ।।४८।।

मांस को खाने वाले (दान के) पात्र नहीं होते हैं । मांसदान उत्तम भी नहीं है । मांसाहारी लोगों के द्वारा खाया गया मांस उनके पितरों को तृप्ति प्रदान करने वाला कैसे होगा ?

भुक्तेऽन्यैस्तृप्तिरन्येषां भवत्यस्मिन् कथंचन ।
तत्तत्स[4]वर्गं गता जीवास्तृप्तिं गच्छन्ति निश्चितम् ।।४९।।

---

१ पितुः । २ पितृचरमृगस्य । ३ पितृणो । ४ तद्वत्स्वर्ग क. ।

यदि यह मान लिया जाय कि दूसरों के द्वारा खाए जाने पर दूसरों को तृप्ति हो जाती है, तो उन स्वर्गों को गए हुए जीव तृप्त हो जायँगे, यह निश्चित है ।

पुत्रेणार्पितदानेन पितरः स्वर्गमवाप्नुयुः ।
तर्हि तत्कृत पापेन तेऽपि गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥५०॥

पुत्र के द्वारा दिए गए दान से यदि पितर स्वर्ग को प्राप्त हों तो पुत्र के द्वारा किए हुए पाप से वे पितर दुर्गति को भी प्राप्त हो जायें ।

अन्यस्य पुण्यपापाभ्यां भुनक्त्यन्यः शुभाशुभम् ।
ईदृशं विपरीतं न क्वापि श्रूयते भुवि ॥५१॥

अन्य के द्वारा किए गए पुण्य और पाप के शुभ और अशुभ फल को अन्य कोई भोगता है, ऐसी विपरीत बात पृथ्वी पर कहीं भी नहीं सुनी गई ।

मृत्वा जीवोऽथ गृह्णाति देहमन्यं हितत्क्षणे ।
पितृत्वं कस्य जायेत वृथैवं जल्पनं ततः ॥५२॥

यदि जीव मरकर तत्क्षण अन्य देह को धारण कर लेता है तो पितृत्व किसके उत्पन्न हुआ । अतः पितरों की उत्पत्ति कहना व्यर्थ है ।

स्वकृत पुण्य पापाभ्यां प्राप्ति स्यात्सुखदुःखयोः ।
तस्माद्भव्याः कुरुध्वं तद्यस्माच्छ्रेयो भवेत्सदा ॥५३॥

अपने द्वारा किए हुए पुण्य और पाप से सुख और दुःख की प्राप्ति होती है । इस कारण हे भव्यो ! आप सदा ऐसा प्रयत्न करो, जिससे कल्याण हो ।

अर्थैके प्रवदन्त्येवं भूतोयाग्निन गादिषु ।
भूतग्रामेषु सवेषु विष्णुर्वसति सर्वगः ॥५४॥

कुछ लोग इस प्रकार कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, पर्वत तथा समस्त प्राणियों में सर्वव्यायापी विष्णु रहता है ।

उक्तं च पुराणे—पुराण में कहा है—

जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालमालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

जल में विष्णु है, थल में विष्णु है, पर्वत के मस्तक पर विष्णु है, ज्वालाओं के समूह से व्याप्त (अग्नि) में विष्णु है । समस्त जगत् विष्णुमय है ।

वसेत्सर्वाङ्गिदेहेषु विष्णुः सर्वगतो यदि ।
वृक्षादिघातनात्सोऽपि हन्यमानो न किं भवेत् ॥५५॥

समस्त प्राणियों की देह में यदि विष्णु रहता है तो वृक्षादि का घात करने पर उसे विष्णु का घात क्यों नहीं माना जायेगा ।

मत्स्य कूर्मवराहाधा विष्णोर्गर्भाश्रया दश ।
मत्स्यादिशैल विम्बानां पूजनं कियते ततः ॥५६॥

मत्स्य, कूर्म, वराह आदि दश विष्णु के गर्भ का आश्रय करते हैं, अतः मत्स्यादि तथा शैलबिम्बों की पूजन की जाती है ।

तस्मान्मत्स्यादि जीवानां चैतन्य संयुजां जनैः ।
प्राणाभिघात[1]नं तेषां श्राद्धादौ क्रियते कथम् ॥५७॥

यदि ऐसा है तो चैतन्य से युक्त मत्स्यादि प्राणियों का घात श्राद्ध के आदि में क्यों किया जाता है ।

सर्वेष्वङ्ग प्रदेशेषु प्रत्येकं देह धारिणाम ।
ब्रह्माधा देवताः सन्ति वेदार्थोऽयं सनातनः ॥५८॥

प्रत्येक देह धारी के समस्त अङ्ग प्रदेशों में ब्रह्मादि देवता हैं, यह सनातन वेदार्थ है । उक्तं च पुराणे[2] पुराण में भी कहा गया है—

नाभिस्थाने वसेद् ब्रह्मा विष्णुः कण्ठे समाश्रितः ।
तालुमध्यस्थितो रुद्रो ललाटे च महेश्वरः ॥१॥

नासाग्रे तु शिवं विद्यात्तस्यांते च परापरं ।
परात्परतरं नास्ति शास्त्र स्यायं विनिश्चयः ॥२॥

नाभि स्थान में ब्रह्मा रहता है, कण्ठ में विष्णु का आश्रय है, तालु के मध्य में रुद्रा स्थित है और ललाट में महेश्वर स्थित है । नासिका के अग्रभाग में शिव जानने चाहिए । उसके अन्त में परापर है । पर से परतर कोई नहीं है । यह शास्त्र का निश्चय है ।

यज्ञादावामिषं तेषां भुक्तं छागादि देहिनाम् ।
यदि स्वर्गीय जायेत नरकं केन गम्यते ॥५६॥

यज्ञ के आदि में बकरे आदि प्राणियों का मांस खाने से यदि स्वर्ग होता है तो नरक में कौन जायेगा ?

---

१ दिधा, ख. २ अस्याग्रे 'श्लोकौ' ख-पाठः ।

तदङ्गे चेन्न विद्यन्ते तच्छास्त्रं स्यान्निरर्थकम् ।
सन्ति ते चेत्कथं हण्या निघृणैर्यज्ञकर्मणि ॥६०॥

यदि प्राणी के अङ्ग में वे देवता नहीं हैं तो शास्त्र निरर्थक हो जाता है । यदि प्राणी के अङ्ग में वें है, तो निर्दयी व्यक्ति यज्ञ में उनका हनन क्यों करते हैं ?

इति[1] मांसेन पितृवर्गतृप्ति दूषणम् ।

अन्ये चवं वदन्त्येके यज्ञार्थं यो निहन्यते ।
तस्य मांसाशिनः सोऽपि सर्वे यान्ति सुरालयम् ॥६१॥

अन्य कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जो यज्ञ के लिए मारा जाता है, उसका मांस खाने वाले तथा वह, ये सब स्वर्ग लोक जाते हैं ।

तत्किं न क्रियते यज्ञः शास्त्रज्ञैस्तस्य निश्चयात् ।
पुत्र वध्वादिभिः[2] सर्वे प्रगच्छन्ति दिवं यथा ॥६२॥

यदि शास्त्रज्ञों को यह निश्चय है तो पुत्र, वधू आदि से यज्ञ क्यों नहीं करते हैं ? ताकि सब स्वर्ग चले जाए ।

एवं विरुद्धमत्योन्यं मत्वा वास्तवमञ्जसा ।
प्रतार्यतेऽन्ध वन्मांसविवेक विकलाशयैः ॥६३॥

इस प्रकार मांस के विवेक में दुःखी अभिप्राय वालों के द्वारा अन्धों के समान ठगाए जाते हैं और यथार्थ रूप में परस्पर विरोधी बात को मानते हैं ।

---

१ इति ख-पुस्तके नास्ति । २ ख पुस्तकेऽयं तृतीयान्तः तदा पुत्रवध्वादिभिः सहयोजनीयः ।

प्राणिप्राणात्येय शक्ताः प्रशक्ता मांसभक्षणे ।
क्रिया कौतस्कुती तेषां प्राप्तेय स्वर्गमोक्षयोः ॥६४॥

जो प्राणियों के प्राणों का वियोग करने में समर्थ है और मांस भक्षण में अत्यधिक समर्थ हैं, उनमें स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करने हेतु क्रिया कहाँ से हो सकती है ? उक्तं च पुराणे—पुराण में भी कहा है—

तिलसर्षपमात्रं तु मासं भक्षन्ति ये द्विजाः ।
नरकान्न निवर्तन्ते यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥१॥

आकाश गामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात् ।
विप्राणां पतनं दृष्ट्वा तस्मान्मांसंन भक्षयेत् ॥२॥

जो द्विज तिल और सरसों के बराबर भी मांस का भक्षण करते हैं, वे जब तक सूर्य और चन्द्रमा हैं, तब तक नरक से नहीं लौटते हैं । मांस भक्षण से आकाशगामी विप्र भी पतित हो गए, अतः विप्रों के पतन को देखकर मांस भक्षण नहीं करना चाहिये ।

कश्चिदोहति यत्सर्वं धान्यपुष्प फलादिकं ।
मांसात्मकं न तत्किंस्याज्जीवाङ्गत्व प्रसङ्गतः ॥६५॥

कुछ लोग कहते हैं कि धान्य, पुष्प, फलादिक चूंकि प्राणी के अङ्ग हैं, अतः वे मांसात्मक क्यों नहीं होंगे ?

नैवं स्यान्मांसमंग्यङ्ग जीवाङ्गंस्यान्न वाभिषम् ।
यथा निम्बो भवेद्वृक्षो वृक्षो निम्बो भवेन्न वा[2] ॥६६॥

ऐसा मानने पर प्राणी के अङ्ग मांस हो जायेंगे, किन्तु प्राणी के अङ्ग मांस हैं भी और नहीं भी है, जिस प्रकार नीम

१ च ख. ।

वृक्ष होता है, किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता है।

इति हेतोर्न वक्तव्यं सादृश्यं मांसधान्ययोः ।
मांसं निन्द्यं न धान्यं स्यात्प्रसिद्धं यं श्रुतिर्जन ॥६७॥

इस हेतु से मांस और धान्य की समानता नहीं कहना चाहिए। लोगों में यह श्रुति प्रसिद्ध है कि मांस निन्द्य है, धान्य नहीं।

उक्तं च—कहा भी है—

आगोपालादि यत्सिद्धं मांसं धान्यं पृथक्-पृथक् ।
धान्य मानय इत्युक्ते न कश्चिन्मांसमानयेत् ॥१॥

आबाल वृद्ध में यह प्रसिद्ध है कि माँस और धान्य दोनों अलग-अलग हैं। धान्य लाओ ऐसा कहने पर कोई मांस नहीं लाता है।

इत्याधनेकधा शास्त्रं यत्कृतं दुष्टचेतसैः ।
तदंगीकृत्य जायंते जना दुर्गतिभाजनम् ॥६८॥

इत्यादि अनेक प्रकार से दुष्ट चित्त वालों ने जो शास्त्रों की रचना की है, उसे स्वीकार कर प्राणी दुर्गति के पात्र हो जाते हैं।

तत्ताव त्प्राणिघातेन साधितं मांसभक्षणात् ।
पापं सम्पद्यते यस्माद्दुः खं श्वाभ्रं तदुच्यते ॥६९॥

मांस भक्षण के कारण प्राणिघात से पाप होता है, ऐसा कहा है। उस पाप से दुःख होता है, उसे नारकीय (दुःख) कहते हैं।

खरशूकर मार्जार श्वानवानर गोमुखाः ।
वृत्तास्तिस्त्राश्यतु श्कोणा दुःस्पर्शा वज्र सन्निभाः ॥७०॥

घंटाकारा अधोववत्रा दुर्गन्धास्तमसावृताः ।
श्वभ्रेषु पापजीवाना मुत्पत्त्यै सन्ति योनयः ॥७१॥

पापी जीवों की उत्पत्ति के लिए नरक में गधा, शूकर, बिल्ली, कुत्ता, बन्दर, घड़ियाल अथवा नक्र गोल, तिकोने, चौकोर, बुरे स्पर्श वाले, वज्र के समान, घंटाकार, नीचे, की ओर मुख वाले, दुर्गन्धित, अन्धकार से आवृत योनियाँ होती हैं।

तीव्र मिथ्यात्व संयुक्ताः प्राणिघातन तत्पराः ।
क्रूरा दुश्चेष्टिता जीवा उत्पधन्तेऽत्र योनिषु ॥७२॥

इन योनियों में तीव्र मिथ्यात्व से संयुक्त, प्राणियों का घात करने में तत्पर, क्रूर तथा दुष्ट चेष्टाओं वाले जीव उत्पन्न होते हैं ।

अन्तर्मुहूर्तकालेन पर्याप्ती समवाप्य षट् ।
ततः पतन्ति शस्त्राग्रे स्वयमेवोत्पतन्ति च ॥७३॥

वे अन्तर्मुहूर्त काल में छः प्रकार की पर्याप्तियों को प्राप्त कर शस्त्र के आगे गिरते हैं और स्वयं उछलते हैं ।

असुरा आतृतीयान्तं योधयन्ति परस्परम् ।
प्रयुध्यन्ते स्वयं ते ऽपि[1] ज्ञात्वा वैरं पुरातनम् ॥७४॥

तीसरी पृथ्वी तक असुर कुमार जाति के देव उन्हें लड़ाते हैं और वे स्वयं भी पुराना वैर जानकर युद्ध करते हैं ।

---

१ च. ख. ।

यज्ञादौ निहता पूर्वं छागाधा मुष्टिधाततः ।
स्मृत्वा तत् प्राक्तनं वैरं भवन्ति हननोधताः ॥७५॥

पहले यज्ञों में मुठ्ठी आदि का प्रहार कर जो बकरे आदि मारे थे, वे उस पुराने वैर को याद कर मारने के लिए उद्यत हो जाते हैं ।

कुन्त क्रकच शूलाधैर्ननि शस्त्रै स्तनूद्भवैः ।
खण्डं खण्डं विधायैवं प्रपीडयन्त्यहर्निशम् ॥७६॥

शरीर से उत्पन्न कुन्त (भाले) आरी तथा शूल आदि अनेक प्रकार के शस्त्रों से खण्ड-खण्ड कर, इस प्रकार वे दिन-रात पीड़ा पहुँचाते हैं ।

सूतकस्येव[1] संघात स्तद्देहेषु प्रजायते ।
यावदायुः स्थिति स्तेषां न तावन्मरणं भवेत् ॥७७॥

उनके शरीरों में पारद के समान मेल हो जाता है । उनकी आयु की जब तक स्थिति है. तब तक मरण नहीं होता है ।

तप्तायः पिण्डमादाय सं प्रदर्श्यामिषोपमम् ।
निक्षिपन्ति मुखे तेषां विहिताभिष भोजिनाम् ॥७८॥

जिन्होंने पहले मांस का भक्षण किया था, उनके मुख में वे नारकी मांस के समान तपाए हुए लोहे के पिण्ड को लेकर उनके मुख में डालते हैं ।

शारीरं मानसं दुःख मन्योन्योदीरितं च यत् ।
सहन्ते नारका नित्यं पूर्व पापविपाकतः ॥७९॥

---

१ पारदृस्येव ।

पूर्व जन्म में किए गए पाप के परिणामवश नारकी जीव एक दूसरे प्रेरित शारीरिक और मानसिक दुःख सहते हैं ।

लेश्यास्तिस्रो ऽशुभास्तेषां संस्थानं हुंडसंज्ञकम् ।
अतिक्लिष्टाः परीणामा लिंगं नपुंसकाह्वयम् ॥८०॥

उनके तीन अशुभलेश्यायें (कृष्ण, नील और कापोत) होती है, हुंडक संस्थान होता है, अतिक्लिष्ट परिणाम होते हैं और नपुंसक लिंग होता है ।

क्षारोष्णतो व्रसद्भावनदी वैतरणी जलात् ।
दुर्गन्धमृन्मयाहाराद् भुञ्जन्ते दुःखमद्भुतम् ॥८१॥

वैतरणी नदी के खारे, गर्म और तीव्र जल तथा दुर्गन्धित मिट्टी के आहार से वे अद्भुत दुःख अनुभव करते हैं ।

अक्ष्णो र्निमीलनं यावन्नास्ति सौख्यं च तावता ।
नरके पच्यमानानां नारकाणामहर्निशम् ॥८२॥

नरक में पड़े हुए नारकियों को दिन-रात में पलक के झपकने मात्र भी सुख नहीं है ।

तस्मान्निर्गत्य कष्टेन पशुतां यान्ति ते जनाः ।
तत्र दुःखमसह्यं च जननी गर्भ गह्वरे ॥८३॥

वहाँ से कष्टपूर्वक निकलकर वे लोग पशुता को प्राप्त होते हैं और वहाँ पर माता के गर्भ रूपी गड्डे में असह्य दुःख उठाते हैं ।

गर्भाद्विनिसृतानां स्यात् कियत्कालावशेषतः ।
यज्ञादौ विहितं कर्म तत्तथैवोपतिष्ठति ॥८४॥

गर्भ से निकलने पर कुछ ही समय बाद यज्ञादि में किया जाने वाला कर्म उसी प्रकार होता है ।

एवं भ्रमन्ति संसारे स्मृर्ति लब्ध्वा पुनः पुनः ।
ज्ञात्वैवं क्रियतां भव्यैः प्राणिनां प्राणरक्षणम् ।।८५।।

इस प्रकार पुनः पुनः स्मृति प्राप्त कर संसार में भ्रमण करते रहते हैं । इस प्रकार जानकर भव्यजनों को प्राणियों की प्राण रक्षा करना चाहिए ।

इति यज्ञे पशुवधकृतेन स्वर्ग प्राप्ति दूषणम् ।

गोयोनिर्वंद्यते नित्यं न चास्यं मलिनं यतः ।
पश्य लोकस्य मूर्खत्वं वर्तते हेतु वर्जितम् ।।८६।।

लोगों की अहेतुक मूर्खता को तो देखो । वे नित्य गोयोनि की वन्दना करते हैं, उससे उनका मुख मलिन नहीं होता है ।

तिरश्ची गौस्तृणाहारी नित्यं विण्मूत्रलालसा ।
तस्या अपरभागस्य कथं देवत्वभागतम् ।।८७।।

जो तिर्यञ्च जाति की है, तृण का आहार करने वाली है, नित्य, विष्ठा और मूत्र को लालसा वाली है, उसके पिछले भाग में दैवत्त्व कैसे आ गया ?

ईदृग्विधापि वन्धा सा रज्ज्वा किं बन्ध्यते दृढ़म् ।
दुग्धार्थं पीडयते दण्डैराक्रन्दन्ती स्वभाषया ।।८८।।

यदि वह ऐसी वन्दनीय है तो उसे रस्सी से दृढ़ता से क्यों बांधा जाता है ? उससे दूध प्राप्त करने के लिए डंडे मारे जाते हैं और वह अपनी भाषा में आक्रन्दन करती है ।

तस्[1]याङ्गे देवताः सर्वे तिष्ठन्ति सागरा नगाः ।
कथं गौर्यज्ञ वेलायां वध्यते सा द्विजाधमैः ॥८९॥

उसके अङ्ग में यदि समस्त देव, समुद्र और पर्वत विद्यमान हैं तो उसका यज्ञ के समय अधम ब्राह्मणों द्वारा वध क्यों किया जाता है ?

यथा गौः[2] प्रभवेद्वन्धा तथैते शूकरादयः ।
तयोः सादृश्यसद्भावो विण्मूत्राहारसेवनात् ॥९०॥

जिस प्रकार गौ वन्दनीय है, उसी प्रकार शूकरादि भी वन्दनीय होने चाहिए, क्योंकि विष्ठा, मूत्रादि के आहार का सेवन करने से उन दोनों में सादृश्य है ।

एतत्स्ववाग्विरुद्धं यन्मन्यते जडबुद्धयः ।
आयात्यां दुर्गतौ जन्म प्रपद्यन्ते सुनिश्चितम् ॥९१॥

इस प्रकार जड़ बुद्धि अपनी ही वाणी के विरुद्ध मानते हैं । यह सुनिश्चित है कि वे आगे दुर्गति में जन्म लेंगे ।

न वन्द्या गौर्भवेद्वन्द्या गौर्वाणीत्यभिधानतः ।
जैनेन्द्री विमला तथ्या भव्यानां मुक्तिदायिनी ॥९२ ॥

गाय वन्दनीय नहीं है, बल्कि वाणी का पर्यायवाची शब्द गौ है । जिनेन्द्र भगवान् की बिमल, तथ्यपूर्ण, भव्यों को मुक्ति देने वाली वह वाणी रूपी गौ वन्दनीय है ।

इति गोयोनि वंदना दूषणम् ।

विरंचिजगतः कर्ता संहर्ता गिरिजापतिः ।
रक्षकः पुण्डरीकाक्ष[3] इत्यू[4]चुः श्रुतवेदिनः ॥९३॥

---

१ तदङ्गे ख. । २ गौरत्र भवेद्वं ख. । ३ काख्यः ख. । ४ इत्युक्तं ख. ।

वेदवादी ऐसा कहते हैं कि ब्रह्मा जगत् का कर्त्ता है, शिव जगत् का संहारकर्त्ता है और विष्णु रक्षक है ।

यदि ब्रह्मा जगत्कर्त्ता तर्तिक शक्रस्य संसदि ।
विलोक्याप्सरसां वृन्दं जातो भोगाभिलाषुकः ॥६४॥

यदि ब्रह्मा जगत् का कर्ता है तो इन्द्र की सभा में अप्सराओं को देखकर वह भोगाभिलाषी क्यों हो गया ?

ततोऽसौ स्वास्पदं त्यक्त्वा कर्तुं लग्नस्तपो भुवि ।
तावद्भीत्या कृतं देवैस्तत्तपोविघ्नकारणम् ॥६५॥

अनन्तर वह अपने स्थान को त्यागकर पृथ्वी पर तप करने लगा । तब डरकर देवों ने उसके तप में विघ्न किया ।

दृष्ट्वा तिलोत्तमानृत्यं तत्राभूद्विषयातुरः ।
गत्वा तदन्तिकं गाढमाश्लेषं याचते हि सः ॥६६॥

वह तिलोत्तमा के नृत्य को देखकर विषयातुर हो गया और उसके समीप में जाकर गाढ़ आलिंगन की याचना करने लगा ।

अनिच्छन्तीं तिरोभूतां तां गवेषयतोऽभन्त् ।
तस्मिन्मुखानिचत्वारि पंचमं च खराननम् ॥६७॥

जब वह (तिलोत्तमा) ब्रह्मा को न चाहती हुई तिरोभूत हो गई तो उसे खोजते हुए उसके चार मुख हो गए और पाँचवां गधे का मुख हो गया ।

हास्यास्पदीकृतो देवस्ततः क्रुद्धोतिनिर्भरम् ।
खरास्येन भ्रमन्तोऽसौ भक्षणार्थं मरुद्गणान् ॥६८॥

जब देवताओं ने उसका मजाक बनाया, तब वह उन पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। वह मरुद्गणों (देवसमूह) का भक्षण करने के लिए गधे का मुख धारण करता हुआ घूमने लगा।

दृष्ट्वा तान् क्षुभितान् सर्वांश्छिन्नं रुद्रेण तच्छिरः।
अ[1]त्यजन् विषयासक्ति प्रविष्टो नवरा[2]जकम् ॥९९॥

उन सब मरुद्गणों (देवसमूह) को क्षुभित देखकर रुद्र ने उसका सिर काट दिया। वह विषयासक्ति को त्यागकर वन पंक्ति में प्रविष्ट हो गया।

तिलोत्तमेति विभ्रान्त्या सेविता वच्छभल्लिका।
तयोस्तत्राभवत्पुत्रो जाम्बुवानि[3]ति विश्रुतः ॥१००॥

तिलोत्तमा की भ्रान्ति से उसने भालू का बछिया का सेवन किया। उन दोनों के जाम्बवान् नाम से प्रसिद्ध पुत्र हुआ।

यस्यास्ति महती शक्तिर्विश्वकर्तृत्व संभवी।
स्वल्पतराय राज्याय किमसौ तप्यते वृथा ॥१०१॥

विश्व का निर्माण करने की जिसकी बहुत बड़ी शक्ति है, वह थोड़े से राज्य के लिए क्यों व्यर्थ दुःखी होगा?

न शक्नोत्यात्मनस्त्यक्तं यो दुःखं विरहात्मकम्।
कथं स्याद्विश्वकर्तृत्व स्वामित्वं तस्य वेधसः ॥१०२॥

जो विरहजन्य दुःख को नहीं त्याग सकता, उस ब्रह्मा का विश्वकर्तृत्व में स्वामित्व कैसे हो सकता है?

---

१ अत्यजद्धि। २ वनराजिकां. ख। ३ जाम्बुवंतोऽति ख

यद्येवं सकलं विश्वं कुरुते कमलासनः ।
तदा संतिष्ठते क्वासौ सृष्टिनिर्मापणक्षणे ।।१०३।।

यदि समस्त विश्व को ब्रह्मा बनाता है तो वह सृष्टि के निर्माण के क्षण कहाँ बैठता है ?

यत्र स्थित्वा करोत्येष तदेव स्यान्महीतलम् ।
तत्रापि शेषभूतानि तत्कर्तृत्वमपार्थकम् ।।१०४।।

जहाँ पर स्थित होकर यह सृष्टिनिर्माण का कार्य करता है, वही पृथ्वी होती है । वहाँ पर शेष भूत भी होते होंगे । अतः (सृष्टि) कर्तृत्व व्यर्थ है ।

सृष्टिनिर्मापणे कस्मादानीतो भूतसंग्रहः ।
कानि वा तत्र शस्त्राणि योग्यानि शिल्पकर्मणि ।।१०५।।

सृष्टि निर्माण के समय कहाँ कहाँ से भूतों का संग्रह लाता है अथवा शिल्पकर्म के योग्य वहाँ शस्त्र कौन कौनसे हैं ?

विनोपकरणैस्तेन विश्वं केभ्यो विधीयते ।
पृथिव्याद्यैस्तु कर्तृत्वं मिथ्या तेषामसंभवात् ।।१०६।।

उसने बिना उपकरणों के विश्व किससे बनाया । पृथिव्यादि से बनाना निरर्थक है, क्योंकि वे असम्भव हैं ।

भूम्यादिपंचभूतानां यदि पूर्वमसंभवः ।
नास्त्यसंभाविनां कर्ता संभविनां तु का क्रिया ।।१०७।।

पृथ्वी आदि पंचभूत यदि पूर्व में असंभव थे तो असंभवों का कोई कर्त्ता नहीं होता । जो संभव है, उसमें क्रिया कौनसी होगी ?

कर्तृत्वं द्विविधं वस्तुकर्तृत्वं वैक्रियोद्भवम् ।
आद्यं घटादिकर्तृत्वं द्वितीयं देवनिर्मितम् ॥१०८॥

कर्तृत्व दो प्रकार का है–वस्तुकर्तृत्व और बैक्रियोद्भव। आदि का कर्तृत्व घटादिका है, द्वितीय देवनिर्मित है।

पर्याया[1]नां घटादीनां कौतस्कुतीह कर्तृता ।
विनाभूतैः पृथिव्याद्यैर्घटनाया असंभवात् ॥१०९॥

घटादि की पर्यायों की कर्तृता कहाँ से होगी ? पृथिव्यादि भूतों के बिना रचना असंभव है।

न[2] यान्ति मनसा कर्तुं विवर्णाः[3] पार्थिवा अपि ।
कथं कस्मात्समानीता तद्योग्या जीवसंहृतिः ॥११०॥

पार्थिव वस्तुओं को भी मन से विवर्ण नहीं कर सकते। पृथ्वी पर रहने के योग्य जीवों के समुदाय कैसे और कहाँ से लाए गए।

समुत्पादोऽखिलार्थानां मानसो हि प्रजायते ।
न ह्यदृष्टपदार्थानां घटना क्वापि दृश्यते ॥१११॥

पदार्थों की उत्पत्ति यदि मन से ही होती तो अदृष्ट पदार्थों की रचना कहीं दिखाई नहीं देती है।

यदि वैक्रियिकं विश्वं विद्याशक्त्या विनिर्मितम् ।
अवस्तुभूतसम्बन्धान्न भवेत्तच्चिरन्तनम् ॥११२॥

विद्या शक्ति से निर्मित्त विश्व यदि वैक्रियिक है तो अवस्तुभूत सम्बन्ध से वह चिरस्थायी नहीं होगा।

---

१ पर्यायाणि ख.। २ नायान्ति ख.। ३ पर्यायाः ख.।

एवं सुवर्णगर्भस्य कर्त्तृत्वं नोपजायते ।
अनाधकृत्रिमस्यास्य विश्वस्येति विनिश्चयः ।।११३।।

इस प्रकार ब्रह्मा के कर्तृत्व नहीं बनता है। यह विश्व अनादि और अकृत्रिम है, यह निश्चय है।

चराचरमिदं विश्वं सशैलवन सागरम् ।
कृत्वा स्वोदरमध्यस्थं संरक्षति जर्नादनः ।।११४।।

पर्वत, वन और समुद्रों सहित इस चराचर विश्व को अपने उदर के मध्य में स्थित कर जनार्दन (विष्णु) संरक्षण करता है।

असौ सन्तिष्ठते कस्मिन् स किं लोकाद्बहिर्भवः ।
तस्याङ्गनाश्च सैन्यानि क्व तिष्ठन्ति सहोदराः ।।११५।।

तब वह विष्णु कहाँ ठहरता है? क्या वह लोक के बाहर है? उसकी अङ्गनायें और सहोदरा सेनायें कहाँ ठहरती है?

जानकी हरणासक्तः कृतदोषो दशाननः ।
हतो रामेण तौ स्यातां लोकान्तर्वर्तिनौ न किम् ।।११६।।

जानकी हरण में आसक्त कृत दोष रावण राम के द्वारा मारा गया। वे दोनों लोक के अन्तर्वर्ती क्यों नहीं हुए?

सारथ्यं पाण्डुपुत्रस्य कृत्वा कृष्णो निपातयेत ।
कौरवान् निखिलांस्तेपि विश्वान्तर्वर्तिनो न किम् ।।११७।।

अर्जुन का सारथी बनकर श्रीकृष्ण ने समस्त कौरवों को गिरा दिया। वे क्या लोक के अन्तर्वर्ती नहीं हुए।

मायेयं तस्य तद्रूपमनन्तं स्याद् निर्विकारकम्
तस्मात्तस्योदरे माति विश्वं तु मानगोचरम् ॥११८॥

असावप्यनया युक्त्या विष्णुर्भवत्यचेतनः ॥११९॥
विश्वगर्भमनन्तं स्याद्व्योमैकं तदचेतनम् ।

विष्णु अनन्त है, केवल आकाश एक है और अचेतन है। (ऐसा कहने पर इस युक्ति से विष्णु भी अचेतन हो जाता है।)

दशगर्भाश्रितं जन्म निर्विकारस्य जायते ।
असंभाव्यं भवत्येतद्वंध्या पुत्रानुकारिणा[1]म् ॥१२०॥

निर्विकार के गर्भ के आश्रित दश जन्म होते हैं। यह बात वन्ध्यापुत्र के समान असंभव है।

अनेन हेतुनाऽकिंचित्करः स्यान्मधुसूदनः ।
तस्मान्न संभवत्यस्य विश्वरक्षाधिकारिता ॥१२१॥

इस हेतु से मधुसूदन अकिंचित्कर होते हैं। अतः इनके विश्व रक्षाधिकारिता संभव नहीं होती है।

भस्म सात्कुरुते रुद्रस्त्रैलोक्यं स्वल्पचिन्तया ।
तदा संवसति क्वासौ गंगा गौरी समन्वितः ॥१२२॥

थोड़ी चिन्ता से यदि रुद्र तीनों लोकों को भस्म करते हैं तो वह गंगा और गौरी के साथ कहाँ रहते हैं?

दहत्येकतरं ग्रामं स पापी भण्यते जनैः ।
यो विश्वं निर्दहेत सर्वं स कथं याति पूज्यताम् ॥१२३॥

जो एक भी गांव को जला देता है, उसे लोग पापी कहते हैं, किन्तु जो सम्पूर्ण विश्व को जला डाले, वह पूज्यता को कैसे प्राप्त होता है?

---

१ तावत् ख.।

अनन्य संभवीशक्ति युक्तस्य पृथिवीपतेः ।
पापं न विद्यते यस्मा त्पापहन्ता स एव हि ॥१२४॥

पृथ्वीपति की ऐसी शक्ति है, जो अन्य में संभव नहीं लगता है, क्योंकि वह पाप विनाशक है ।

शम्भोर्न विद्यते पापं चेत्कथं भ्रमते भुवि ।
प्रतितीर्थं करालग्न ब्रह्मशीर्षस्य हानये ॥१२५॥

यदि शम्भु को पाप नहीं लगता है तो करालग्र ब्रह्मशीर्ष की हानि के लिए वह प्रत्येक तीर्थ पर क्यों भ्रमण करता है ?

भ्रमन्प्राप्तः पलाशाख्यं ग्रामं यावत्कपालभृत् ।
वत्सेन तत्र शृंगाभ्यां विदार्य मारितो द्विजः ॥१२६॥

कपाल को धारण करने वाले (शिव) जब भ्रमण करते हुए पलाश नामक ग्राम में पहुँचे तो वहाँ पर एक बछड़े ने अपने दोनों सींगों से विदीर्ण कर ब्राह्मण को मार दिया ।

तत्पापात् स्वतनुं कृष्णं दृष्ट्वा सोऽथ विनिर्ययौ ।
निजमातरमा पृच्छय तत्पापोच्छेदनेच्छया ॥१२७॥

उस पाप से अपने शरीर को काला देखकर, वह उस पाप का उच्छेदन करने की इच्छा से अपनी माँ से पूछकर निकला ।

गतोऽनुमार्गतस्तस्य वृषभस्य महेश्वरः ।
गांगं हृदं प्रविष्टौ द्वौ[1] त्यक्तपापौ बभूवतुः ॥१२८॥

उस बैल के मार्ग का अनुगमन करता हुआ माहेश्वर गया । वे दोनों गंगा ह्रद में प्रविष्ट होकर व्यक्त पाप हो गए ।

१ तौ ख. ।

वृषभस्योपदेशेन गंगातोयावगाहनात् ।
जातस्त्यक्तकपालोऽपि कपालीत्युच्यते जनैः ।।१२९।।

वृषभ के उपदेश से गंगा के जल में स्नान करने से यद्यपि उसने कपाल छोड़ दिया, फिर भी लोग उसे कपाली कहते हैं ।

य[1]दि यः स्वकृतं पापं निर्नाशयितुमक्षमः ।
सोऽन्येषां कल्मषापाये स्वामी स्यादिति कौतुकम् ।।१३०।।

यदि वह अपने किए हुए पापों का विनाश करने में समर्थ नहीं है तो वह दूसरों का पाप विनाश करने में समर्थ है, यह बड़े कौतुक की बात हैं ।

ईदृक्पुराणसंदोहं श्रुत्वा युक्तिविवर्जितम् ।
विभ्रमन्ति[2] जना स्वैरं संसारगहने वने ।।१३१।।

युक्ति से रहित इस प्रकार के पुराणों के समूह को सुनकर लोग अपनी इच्छा से संसार रूपी गहन बन में घूमते हैं ।

महास्कन्धस्य लोकस्य कर्ता हर्ता च रक्षकः ।
न कोऽपि विद्यते तस्माद्विपरीतमिदं वचः ।।१३२।।

अतः महा स्कन्ध लोक का कर्ता, हर्ता और रक्षक नहीं हैं । अतः यह (उपर्युक्त) कथन विपरीत हैं ।

इत्येतद्विपरीतात्ममिथ्यात्वं कथितं मया[3] ।
अतश्च क्षणिकैकान्तं मिथ्यात्वं तन्निगद्यते ।।१३३।।

---

१ यदि स्वयं कृत ख. । २ बंभ्रमन्ति ख. । ३ यथा. ख. ।

इस प्रकार यह विपरीत मिथ्यात्व का कथन मेरे द्वारा किया गया। अब क्षणिकैकान्त नामक मिथ्यात्व के विषय में कहते हैं।

क्षणिकैकान्त मिथ्यात्ववादी बौद्धो वदत्यतः[1] ।
उत्पन्नश्च प्रतिध्वंसी भवत्यात्मा प्रतिक्षणम् ।।१३४।।

क्षणिकैकान्त मिथ्यात्ववादी बौद्ध कहता हैं कि आत्मा प्रतिक्षण उत्पन्न और विनाश होता है।

क्षणिके स्वीकृते जीवे क्षणादूर्ध्वमभावतः ।
पुण्यं पापं च तत्रापि कः प्राप्नोति पुरातनम् ।।१३५।।

जीव को क्षणिक मान लेने पर, क्षण के बाद अभाव होने से कौन पुराने पुण्य, पाप को प्राप्त होता है ?

संयमो नियमो दानं कारुण्यं व्रतभावना ।
सर्वथा घटते नैषां नित्यक्षणिक वादिनाम् ।।१३६।।

नित्य क्षणिकवादियों के संयम, नियम, दान, करुणा तथा व्रत भावना सर्वथा घटित नहीं होती है।

तेषां[2] बन्धो विना बन्धं देहो देहं विना तथा[3] ।
नास्ति मोक्षस्ततो नूनं नास्तिकत्वं प्रसज्यते ।।१३७।।

उनके यहाँ बन्ध नहीं है। बन्ध के अभाव में देह तथा देह के अभाव में मोक्ष नहीं हैं, इस प्रकार नास्तिकपना प्रसक्त होता है।

---

१ त्यदः ख.। २ नैषां. ख.। ३ न हि ख.।

इस प्रकार वैनयिक नाम का मिथ्यात्व दुर्गति का मार्ग है। उसे छोड़कर रत्नत्रय स्वरूप शिव की अराधना करना चाहिए।

इति विनय मिथ्यात्वम्।

ज्ञाता दृष्टा पदार्थानां त्रैलोक्योदरर्तिनाम्।
तस्याज्ञानस्वभावत्वं ब्रूते सांख्यो निरीश्वरः ॥१७४॥

तीनों लोकों रूपी उदर पदार्थों के ज्ञाता, दृष्टा, आत्मा का स्वभाव निरीश्वर सांख्य अज्ञान स्वभाव वाला कहता है।

तस्य मतानुसारित्वमङ्गीकृत्य प्रकल्पितम्।
मस्करीपूरणनेह वीरनाथस्यसंसदि ॥१७५॥

उसके मत का अनुसरण कर मस्करीपूरण ने भगवान् महावीर की सभा में भेद उत्पन्न कर दिया।

जिनेन्द्रस्य ध्वनिग्राहिभाजनाभावतस्ततः।
शक्रेणात्र समानीतो ब्राह्मणो गौतमाभिधः ॥१७६॥

जिनेन्द्र भगवान् की ध्वनि को ग्रहण करने वाले पात्र के अभाव में इन्द्र गौतम नामक ब्राह्मण को लाया।

सद्यः सदीक्षितस्तत्र स ध्वनेः पात्रतां ययौ।
ततो देवसभां त्यक्त्वा निर्ययौ मस्करी मुनिः ॥१७७॥

तत्क्षण दीक्षित होकर वह ध्वनि की पात्रता को प्राप्त हो गया। तब मस्करी मुनि देवसभा को त्यागकर चला गया।

सन्त्यस्मदादयोऽप्यत्र मुनयः श्रुतधारिणः।
तांस्त्यक्त्वा स ध्वनेः पात्रमज्ञानी गौतमोऽभवत् ॥१७८॥

हम जैसे श्रुतधारी मुनि यहां हैं, उन्हें छोड़कर अज्ञानी गौतम ध्वनि का पात्र हुआ।

संचिन्त्यैवं क्रुधा तेन दुर्विदग्धेन जल्पितम्।
मिथ्यात्वकर्मणः पाकाद ज्ञानत्वं हि देहिनाम्॥१७९॥

इस प्रकार विचार कर क्रोधपूर्वक उस दुर्बद्धि ने कहा कि मिथ्यात्वकर्म के परिपाक से देहधारी अज्ञानी हैं।

हेयोपादेयविज्ञानं देहिनां नास्ति जातुचित्।
तस्मादज्ञानतो मोक्ष इति शास्त्रस्य निश्चयः॥१८०॥

शरीरधारियों को कुछ भी हेयोपादेय का ज्ञान नहीं है। इस कारण अज्ञान से मोक्ष होता है, यह शास्त्र का निश्चय है।

यत्कालान्तरितं वस्तु दृष्टपूर्वमनेकधा।
यद्यज्ञानी कथं तस्य चेतृत्वं दृश्यतेऽङ्गिनः॥१८१॥

जो कालान्तरित वस्तु पहले अनेक रूपों में देखी, उसके विषय में यदि अज्ञानी है तो प्राणियों के चेतनता कैसी देखी जाती है?

अयं बन्धुः पिता सूनुर्मातेयं भगिनी प्रिया।
एषां पृथक्क्रिया तस्य ज्ञानहीनस्य दुर्घटा॥१८२॥

उस ज्ञानहीन के यह बन्धु है, पिता है, माता है, बहिन है, प्रिया है, इन सबकी पृथक्क्रिया कठिनाई से घटित हो सकती है।

पंचाक्षविषयाः सर्वैः सेव्यन्ते स्वेच्छया कथम्।
पाषाणस्तंभवत्तस्य न काचित् कर्तृता मता॥१८३॥

सभी लोग स्वेच्छापूर्वक पंच इन्द्रियों के विषयों का सेवन कैसे करते हैं ? पाषाण स्तम्भ के समान उसकी कर्तृता नहीं मानी गई है ।

ज्ञानं विना न चारित्रं तद्विना ध्यानसाधनम् ।
ध्यानं विना कथं मोक्षस्तस्माज्ज्ञानं सतां मतम् ॥१८४॥

ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता है । चारित्र के बिना ध्यान का साधन नहीं होता है । ध्यान के बिना मोक्ष कैसे हो सकता है ? अतः सज्जनों ने ज्ञान को माना है ।

ततो भव्यैः समाराध्यं सम्यग्ज्ञानं जिनोदितम् ।
असाधारण सामग्र्यं निःशेषकर्मणां क्षये ॥१८५॥

अतः भव्यों को जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए । समस्त कर्मों के क्षय हो हो जाने पर यह असाधारण सामग्री है ।

इत्येवं पंचधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं तद्वशाज्जनाः ।
संसाराब्धौ निमज्जन्ति दुःखकल्लोलसंकुले ॥१८६॥

इस प्रकार मिथ्यात्व पाँच प्रकार का कहा गया है । मिथ्यात्व के वश दुःख रूपी तरंगों से व्याप्त संसार रूपी समुद्र में डूब जाते हैं ।

इत्यज्ञानमिथ्यात्वम् ।

अथोर्ध्वं स्वमतोद्भूतंमिथ्यात्वं तन्निगद्यते ।
विहितं जिनचन्द्रेण श्वेताम्बरमताभिधम् ॥१८७॥

इसके बाद अपने मत से प्रकट हुए मिथ्यात्व को कहा जाता है। श्वेताम्बर मत नाम वाले, इसका विधान जिनचन्द्र ने किया।

सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥१८८॥

विक्रम राजा की मृत्यु के १३६ (एक सौ छत्तीस) वर्ष बाद सौराष्ट्र में वलभी नगरी में उसकी उत्पत्ति है, जिसके विषय में मेरे द्वारा कहा जाता हैं।

उज्जयिन्यां पुरी ख्याता देशेऽस्त्यवन्तिकाभिधे।
तत्राष्टाङ्गनिमित्तज्ञो भद्रबाहुर्मुनीश्वरः ॥१८९॥

अवन्ती नामक देश में उज्जयिनी नामक पुरी विख्यात है। वहां पर अष्टाङ्ग निमित्त के धारी भद्रबाहु मुनीश्वर हुए।

निमित्तज्ञानतस्तेन कथितं मुनिजनान् प्रति।
प्रभवत्यत्र दुर्भिक्षं वर्षद्वादशकावधि ॥१९०॥

निमित्त ज्ञान से उन्होंने मुनिजनों से कहा कि यहां बारह वर्ष का दुर्भिक्ष होगा।

निशम्येति वचस्तस्य नान्यथा स्यात्कदाचन।
सर्वे स्वगणोपेताः प्रतिदेशं विनिर्ययुः ॥१९१॥

यह बात सुनकर, उनके (भद्रबाहु के) वचन कदाचित् अन्यथा नहीं होते, ऐसा जानकर सभी अपने-अपने गणों के साथ अन्य देशों की ओर निकल गए।

शान्तिनामा गणी चैकः संप्राप्तो विहरन् पुरीम् ।
सौराष्ट्रां वल्लभीं यावत्तत्र संतिष्ठते स्म सः ।।१६२।।

शान्ति नामक एक गणी नगर में विहार करता हुआ सौराष्ट्र देश की वलभी नगरी में ठहरा ।

तत्राप्यभून्महाभीमं दुर्भिक्षमतिदुःसहम् ।
विदार्योदरमन्येषाम[1]न्नं रंकैर्विभुज्यते ।।१६३।।

वहां अत्यन्त दुःसह महाभयंकर दुर्भिक्ष हुआ । गरीब लोग अन्य लोगों के पेट को फाड़कर अन्न खाने लगे ।

ततः सोढ़ुमशक्तैस्तैः स्वकीयोदरपूर्तये ।
सच्चारित्रं परित्यज्य स्वीकृता कुत्सिता क्रिया ।।१६४।।

अपनी उदरपूर्ति में असमर्थ हुए । उन्होंने सदाचार कर बुरी क्रियायें स्वीकार कर लीं ।

गृहीत्वा चीवरं दण्डं भिक्षापात्रं च कंवलम् ।
भिक्षाशन समानीय स्वावासे[2] भुज्यते सदाः ।।१६५।।

वे चीवर, दण्ड, भिक्षापात्र और कंवल लेकर भिक्षा में प्राप्त भोजन का लाकर अपने आवास में खाने लगे ।

कियत्काले गतेऽप्येवं जाता सुभिक्षता ततः ।
भणितं संघमाहूय शान्तिना गणधारिणा ।।१६६।।

इस प्रकार कुछ समय बीत जाने पर सुभिक्ष हो गया । गणधारी शान्ति ने संघ को बुलाकर कहा ।

---

१ मंतं ख । २ स्वावासं ।

त्यजध्वं कुत्सिताचारं भजध्वं शुद्धसद्दशम् ।
कुरुध्वं गर्हणं निन्दां गृह्णीध्वं सद्व्रतं पुनः ॥१६७॥

कुत्सित (बुरे) आचरण का परित्याग कर दो, शुद्ध आचरण के जो योग्य है, उसका सेवन करो । अपने बुरे कार्यों की गर्हा और निन्दा करो तथा पुनः अच्छे व्रत ग्रहण करो ।

आकर्ण्येत्यग्रजः शिष्यो जिनचन्द्रो ब्रवीदिदन् ।
नो शक्यतेऽधुना धर्तुं जिनैराचा[1]रितं व्रतम् ॥१६८॥

यह बात सुनकर बड़ा शिष्य जिनचन्द्र बोला कि हम जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा आचरित धर्म को धारण करने में समर्थ नहीं हैं ।

ब्रह्मचर्यमचेलत्वं नग्नत्वं स्थितिभोजनम् ।
भूतले शयनं मौनं द्विमासं केशलुञ्चनम् ॥१६९॥

एकस्थानमलाभत्वं सर्वाङ्गमलधारणम् ।
असह्यान्यन्तरायाणि भिक्षानियतकालिकी ॥२००॥

न शक्या मनसा सोढुं द्वाविंशतिपरीषहाः ।
इत्याद्यनेकधा दुःखमधुना केन सह्यते ॥२०१॥

ब्रह्मचर्य, अचेलपना, नग्नपना, खड़े-खड़े भोजन, पृथ्वी पर शयन, मौन, दो मास में केशलुंचन, एक स्थान का लाभ न न होना, सर्वाङ्ग में मल धारण करना, असह्य अन्तराय, अनियत कालिकी भिक्षा तथा बाईस परीषह मन से भी सहन करने योग्य नहीं है । इस तरह अनेक प्रकार के दुःखों को कौन सहन करेगा ?

---

१ राचरित ।

इदानींतनमाचारं सुखसाध्यं न शक्यते ।
तत्परित्यक्तुमस्माभिस्तस्मान्मौनं भजस्व हि ।।२०२।।

हमारा इस समय का आचार सुखसाध्य है, अतः हम इसे छोड़ नहीं सकते हैं । अतः मौन स्वीकार करो ।

ततोऽभाणि गणो नैवं सुन्दरं यत्त्वयोदितम् ।
स्वोदरपूर्तये हेतुर्नो हेतुर्मोक्षसाधने ।।२०३।।

तब गणी ने कहा कि जो तुमने कहा है, वह सुन्दर नहीं है । अपने उदर की पूर्ति का जो हेतु हो, वह हेतु मोक्ष के साधन में नहीं हो सकता है ।

तद्रोषात्पापिना मूर्ध्नि हत्वा दण्डेन मारितः ।
मृत्वा चैत्यगृहे तस्मिन्नाचार्यो व्यन्तरोऽभवत् ।।२०४।।

इस बात को सुनकर पापी ने उनके सिर पर डंडे से प्रहार कर मार डाला । उस चैत्यग्रह में मरकर आचार्य व्यन्तर हुए ।

ततः शिष्यमुख्यं यावत्स्वयं भूत्वा गणाग्रणीः ।
तावत्शिक्षां पुनर्दातुं प्रारेभे व्यन्तरामरः ।।२०५।।

मुख्य शिष्य स्वयं गण का अग्रणी हुआ, तब व्यन्तर देव ने पुनः शिक्षा देना प्रारम्भ किया ।

भीतेन तस्यशान्त्यर्थं काष्ठमष्टांगुलायतम् ।
चतुरस्रं च स एवायमिति संकल्प्य पूजितः ।।२०६।।

भयतीत होकर शिष्य ने उस व्यन्तर की शान्ति के लिए आठ अंगुल विस्तृत चौकोर काष्ठ को 'यह वही है, ऐसा संकल्प करके पूजन की।

श्वेताम्बरैः परिस्थाप्य समर्चितो यथाविधि ।
ततस्तेन परित्यक्तं चेष्टितं विक्रियात्मकम् ॥२०७॥

श्वेत वस्त्र वालों ने स्थापना कर विधिपूर्वक पूजा की। तब उसने विक्रियात्मक चेष्टाओं को त्याग दिया।

समभूत् कुलदेवोऽसौ पर्युपासनसंज्ञकः ।
अद्यापि जलगन्धाद्यैः प्रपूज्यतेऽतिभक्तितः ॥२०८॥

वह पर्युपासन नाम वाला कुलदेव हुआ। आज भी जल, गन्धादि के द्वारा अतिभक्ति पूर्वक पूजा जाता है।

अन्तरे श्वेतसद्वस्त्रं धृत्वा तस्यार्चनं कृतम् ।
तस्मादभूदिदं लोके श्वेताम्बरमताभिधम् ॥२०९॥

बीच में अच्छे श्वेत वस्त्र धारण कर उसकी पूजा की। अत: यह लोक में श्वेताम्बर मत नाम वाला हुआ।

समुत्पन्नेऽपि कैवल्ये भुनक्ति केवली जिनः ।
नारीणां तद्भवे मोक्षः साधूनां ग्रन्थसंयुजाम् ॥२१०॥

केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी केवली जिन भोजन करते हैं। नारियों का उसी भव में मोक्ष हो जाता है। सग्रन्थ साधु होता है।

ईदृशं शास्त्रसंदोहं विपरीतं जिनोक्तितः ।
संविधाय वदत्येष गुरुद्रोही निरंकुशः ॥२११॥

जिनोक्ति से विपरीत इस प्रकार के शास्त्र समूह की रचना करके यह निरंकुश गुरुद्रोही कथन करता है ।

यस्यानन्तसुखं तस्य नास्त्याहारप्रसंगता ।
यद्यस्त्यनन्तसौख्यानां व्याधातो जायते ध्रुवम् ॥२१२॥

जिसके अनन्त सुख है, उसके आहार का प्रसङ्ग नहीं है । यदि आहार का प्रसङ्ग है तो अनन्त सुखों में निश्चित रूप से व्याघात होता है ।

नास्तिक्षुधां विनाहारः क्षुन्मुख्या दोषसंहतिः ।
इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य सदोषत्वं प्रसज्यते ॥२१३॥

क्षुधा के बिना आहार नहीं है । दोषों के समूह में क्षुधा मुख्य है । इन सब कारणों से जिनेन्द्र के सदोषत्व प्राप्त होता है ।

वेदनीयस्य सद्भावे बुभुक्षाद्य प्रजायते ।
तस्मात्केवलिनां भुक्तिर्न भवेद्दोषकारिणी ॥२१४॥

वेदनीय के सद्भाव में भूख की इच्छा आदि उत्पन्न होती है । अतः केवली भुक्ति दोषकारिणी नहीं होगी ?

दग्धरज्जुसमं वेद्यं स्वशक्तिपरिवर्जितम् ।
असमर्थं स्वकार्यस्य कर्तृत्वे क्षीणमोहिनि ॥२१५॥

वेदनीय जली हुई रस्सी के समान अपनी शक्ति से रहित है । मोह के क्षीण हो जाने पर वह अपने कार्य के करने में असमर्थ है ।

मोहमूलं भवेद्वेद्यं मोहविच्छेदमीयुषि।
तद्धेतोर्निष्फलं वेद्यं छिन्नमूलतरुर्यथा ॥२१६॥

वेदनीय कर्म का मूल मोहनीय कर्म होता है। मोह का विनाश हो जाने पर वेदनीय निष्फल है, जिस प्रकार मूल के नष्ट होने पर वृक्ष निष्फल होता है।

बुभुक्षा भोक्तुमिच्छा स्यादिच्छापि मोहजा स्मृता।
तत्क्षये वीतरागस्य भोजनात्[1] स्यात्सदोषता ॥२१७॥

भोजन की इच्छा बुभुक्षा कहलाती है। इच्छा भी मोह-जन्य मानी गई है। मोह का क्षय होने पर भी यदि वीतराग भोजन करते हैं तो दोष उत्पन्न होता है।

अक्षार्थेषु विरक्तस्य गुप्तित्रयोपसंयुजः[2]।
साधोः सम्पद्यते ध्यानं निश्चलं कर्मणां रिपुः ॥२१८॥

जो इन्द्रिय विषयों के प्रति विरक्त है, तीन गुप्तियों से युक्त है, ऐसे साधु को निश्चल ध्यान होता है, जो कि कर्मों का शत्रु हैं।

ध्यानात्समरसीभावस्तस्मात्स्वात्मन्यवस्थितिः।
ततस्तुः कुरुते नूनं निःशेषं मोहसंक्षयम् ॥२१९॥

ध्यान से समरसी भाव होता है, उससे अपनी आत्मा में स्थिति होती है और उससे निश्चित रुप से समस्त मोह का क्षय करता है।

भूत्वाथ क्षीणमोहात्मा शुक्लध्याने द्वितीयके[3]।
स्थित्वा घातिक्षयं[4]कृत्वा केवली प्रभवत्यसौ ॥२२०॥

---

१ भोजनं ख.। २ संयुत्त ख.। ३ तृतीयके ख.। ४ घातित्रयं हत्वा ख.।

द्वितीय शुक्ल ध्यान में क्षीण मोह स्वरुप होकर घातिकर्म का क्षय करके वह केवली होने में समर्थ होता है ।

दशाष्टदोषनिर्मुक्तो लोकालोकप्रकाशकः ।
अनन्तसुख संतृप्तः कथं भुनक्ति केवली ।।२२१।।

जो अठारह दोषों से रहित है, लोकालोक का प्रकाशक है, अनन्त सुख से सन्तृप्त है, ऐसा केवली भोजन कैसे करता है ?

सन्ति क्षुधादयो दोषाः कियन्तश्चेज्जिनेशिनः ।
निर्दोषो वीतरागोऽसौ परमात्मा कथं भवेत् ।।२२२।।

यदि जिनेश के क्षुधादि दोष हैं तो वह निर्दोष, वीतरागी परमात्मा कैसे हो ?

अथौदासीन्ययुक्तानां साधूनां भोजनादिकम् ।
कुर्वतां वीतरागत्वं सर्वेषां सम्मतं सताम् ।।२२३।।

मिथ्यात्वज्वरसम्पन्नतीव्रदाधवतामयम् ।
प्रलापस्तूपचारेण वीतरागा ह्यमी यतः ।।२२४।।

यदि कहो कि जो उदासीन हैं, अयुक्त हैं ऐसे साधुओं के भोजनादि करने पर भी समस्त सज्जनों के द्वारा वीतरागत्व माना गया है तो मिथ्यात्व रुपी ज्वर से युक्त तीव्र गर्मी वाले लोगों का यह प्रलाप है, क्योंकि ये (साधु) उपचार से वीत-रागी हैं ।

विनाहारं न च क्वापि दृश्यतेऽत्र तनुस्थितिः ।
तस्मात्केवलीभिर्नूनमाहारो गृह्यते सदा ।।२२५।।

यदि कहो कि आहार के बिना कहीं भी शरीर की स्थिति नहीं देखी जाती है, अतः केवली निश्चित रूप से सदा आहार ग्रहण करते हैं।

नोकर्मकर्मनामा च लेपाहारोऽथ मानसः।
ओजश्च कवलाहारश्चेत्याहारो हि षड्विधः ॥२२६॥

तो (हमारा कहना है) कि आहार छः प्रकार का होता है–१. नोकर्माहार २. कर्माहार ३. लेपाहार ४. मानसाहार ५. ओजाहार ६. कवलाहार।

एवमनेकधाहारो देहस्य स्थितिकारणम्।
तन्मध्ये कवलाहारो वान्यो देहस्थितौ भवेत् २२७॥

इस प्रकार अनेक प्रकार का आहार देह की स्थिति का कारण होता है। इनमें देह की स्थिति के लिए कवलाहार या अन्य आहार होता है।

नोकर्मकर्मनामानमाहारं गृह्णतोऽर्हतः।
देहस्थितिर्भवत्येतदस्माकमपि सम्मतम् ॥२२८॥

अर्हन्त भगवान् नोकर्म और कर्म नाम वाले आहार का ग्रहण करते हैं। इससे उनकी देह स्थिति होती है, यह हमें भी मान्य है।

आहोश्वित्कवलाहारपूर्विका स्यात्तनुस्थितिः।
त्वयैवं भण्यते तत्र प्रसिद्धा व्यभिचारिता ॥२२९॥

आपने जो कहा कि कवलाहारपूर्वक शरीर की स्थिति होती है, उसमें व्यभिचार प्रसिद्ध है।

एकेन्द्रियेषु जीवेषु लेपाहारः प्रजायते ।
आहारो मानसो देवसमूहेष्वखिलेष्वपि[1] ॥२३०॥

एकेन्द्रिय जीवों में लेपाहार होता है । समस्त देव समूहों में भी मानस आहार होता है ।

इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य कवलाहारपूर्विका ।
देहस्थितिर्नवक्तव्या त्वया स्वप्नेऽपि दुर्मत्ते ! ॥२३१॥

अतः हे दुष्ट बुद्धि वाले ! तुम्हें स्वप्न में भी जिनेन्द्र भगवान् की स्थिति कवलाहारपूर्वक नहीं कहनी चाहिए ।

एकादश जिने सन्ति बुभुक्षाद्याः परीषहाः ।
तस्मात्केवलिनां भुक्तिरनिवार्या भवादृशैः ॥२३२॥

जिनेन्द्र भगवान् में क्षुधा आदि ग्यारह परीषह होती है, अतः आप जैसों के मत में केवली भुक्ति अनिवार्य है ।

किमेवं क्रियतेमूढ ! पुनश्चर्वितचर्वणम् ।
क्षुत्पिपासादयो दोषा यस्मात्पूर्वं निराकृताः ॥२३३॥

हे मूढ़ ! इस प्रकार चर्वितचर्वण क्यों करते हैं ? क्योंकि क्षुधा, पिपासा आदि दोषों का निराकरण हम पहले ही कर चुके हैं ।

क्षुत्पिपासादयो यस्मान्न[2] समर्था मोहसंक्षये ।
द्रव्य कर्माश्रयात्तेषामस्तित्वमुपचारतः ॥२३४॥

---

१ अस्याग्रेऽयं पाठ ख–पुस्तके । उक्तं चान्यत्र–

णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे ।
णरपसुकवलाहारो पक्खी ओजो णगे लेओ ॥ १॥

२ ह्यते ख. ।

मोहनीय कर्म के क्षय होने पर चूंकि क्षुधा, पिपासा आदि समर्थ नहीं हैं। अतः द्रव्य कर्मों के आश्रय से उनका अस्तित्व उपचार से है।

अस्तु वा तस्य वेद्योत्थबुभुक्षाया विचारणा।
अनेक जीवहिंसाद्यं पश्यन् भुंक्ते कथं जिनः ॥२३५॥

यदि उनके वेदनीय से उत्थित भोजन करने की विचारणा हो तो अनेक जीवों को हिंसा आदि को देखते हुए जिनेन्द्र भोजन कैसे करते हैं ?

यस्माच्छुद्धमशुद्धं वा स्वल्पज्ञानयुतां जनाः।
कुर्वन्ति भोजनं तद्वत् केवली कुरुते कथन् ॥२३६॥

चूँकि स्वल्प ज्ञान से युक्त लोग शुद्ध अथवा अशुद्ध भोजन करते हैं। उसी प्रकार केवली कैसे करते हैं ?

अन्तरायान् विना तस्य प्रवृत्तिर्भोजने यदि।
श्रावकेभ्योऽतिनीचत्वं निन्दास्पदं प्रजायते ॥२३७॥

अन्तरायों के बिना यदि उनके भोजन में प्रवृत्ति हो तो श्रावकों से भी अधिक नीच और निन्दा के पात्र होंगे।

करोति चान्तारायांश्च दृष्टे चायोग्यवस्तुनि।
तदा सर्वज्ञभावस्य दत्तस्तेन जलाञ्जलिः ॥२३८॥

अयोग्य वस्तुओं के देखने पर यदि वे अन्तरायों को करते हैं तो उन्होंने सर्वज्ञता को जलांजलि दे दी।

तथापि कवलाहारं ये वदन्ति जिनेशिनः।
सुरास्वादमदोन्मत्ता जल्पन्ति घूर्णिता इव ॥२३९॥

फिर भी जो जिनेन्द्र भगवान् के कवलाहार कहते हैं, वे मद्य के आस्वादन से मदोन्मत्त होकर घूमने वाले व्यक्तियों के समान कहते हैं।

इति[1] केवल भुक्ति निराकरणम् ।

अथ स्त्रीणां भवे तस्मिन् मोक्षोऽस्तीति वदन्ति ये ।
ते भवन्ति महामोहग्रस्ता जना इव ॥२४०॥

जो स्त्रियों का उसी भव से मोक्ष है, इस प्रकार कहते हैं, वे महामोह से ग्रस्त मनुष्यों के समान होते हैं।

यद्यपि कुरुते नारी तपोऽप्यत्यन्तदुःसहम् ।
तथापि तद्भवे तस्या मोक्षो दूरतरो हि सः ॥२४१॥

यद्यपि नारी अत्यन्त दुःसह तप करती है, तथापि उसका वह मोक्ष उस भव में दूरतर है।

तस्या जीवो न किं जीवो जीवमात्रोऽथवा स्मृतः ।
मोक्षावाप्तिर्न जायते नारीणां केन हेतुना ॥२४२॥

उसका जीव क्या जीव नहीं है, अथवा जीवमात्र माना गया है। अतः किस हेतु से नारी के मोक्ष प्राप्ति नहीं होती है?

जीव सामान्यतो मुक्तिर्यद्यस्ति चेत्प्रजायताम् ।
मातंगिन्याद्यशेषाणां नारीणामविशेषतः ॥२४३॥

यदि जीव सामान्य को मुक्ति है तो हथिनी आदि सामान्य नारियों की सामान्य रूप से मुक्ति हो।

---

१ इति ख पुस्तके नास्ति ।

सदवाशुद्धता योनौ गलन्मलाश्रयत्वतः ।
रजः स्खलनमेतासां मासं प्रति प्रजायते ॥२४४॥

गिरते हुए मल के आश्रय से (इन स्त्रियों की) योनी में सदैव अशुद्धता होती है। इनके प्रतिमास रजः स्खलन होता रहता है।

उत्पद्यन्ते सदा स्त्रीणां योनौ कक्षादिसन्धिषु ।
सूक्ष्मापर्याप्तका मर्त्यास्तद्देहस्य स्वभावतः ॥२४५॥

स्त्रियों की योनि, काँख आदि की सन्धि में सदा सूक्ष्म अपर्याप्त मनुष्य उस देह के स्वभाव के कारण उत्पन्न होते रहते हैं।

स्वभावः कुत्सितस्तासां लिंग चात्यन्तकुत्सितम् ।
तस्मान्न प्राप्यते साक्षाद्द्वेधा संयमभावना ॥२४६॥

उन स्त्रियों का स्वभाव कुत्सित होता है और स्त्रीलिंग अत्यन्त कुत्सित होता है। अतः साक्षात् दो प्रकार की संयम भावना प्राप्त नहीं होती है।

उत्कृष्टसंयमं मुक्त्वा शुक्लध्याने न योग्यता ।
नो मु[1]क्तिस्तद्विना तस्मात्तासां मोक्षोऽतिदूरगः ॥२४७॥

उत्कृष्ट संयम को छोड़कर शुक्लध्यान की योग्यता नहीं है। शुक्लध्यान के बिना मोक्ष नहीं होता है। अतः उनका मोक्ष अत्यन्त दूर है।

सप्तमं नरकं गन्तुं शक्तिर्यासां न विद्यते ।
आद्यसंहननाभावान्मुक्तिस्तासां कुतस्तनी ॥२४८॥

---

१ २४७ तमश्लोकस्योत्तरार्द्धं २४८ तम श्लोकस्य पूर्वार्द्धं ख पुस्तकाद्गतं ।

अन्य जो काष्ठा संघी आदि हैं, वे मिथ्यात्व का प्रवर्तन करने से आगामी काल में चारों गतियों में निरन्तर दुःख प्राप्त करेंगे।

इति सग्रन्थमोक्षमार्ग—श्वेताम्बरमत निराकरणम्

मिथ्यात्वालंबनापाकात् प्रयान्ति नारकीं गतिम्।
यत्रास्ति दुःखमत्युग्रमन्योन्योदीरितं महत्॥२८६॥

मिथ्यात्व के आलंबन के परिपाक से नरकगति को जाते हैं। जहाँ पर एक दूसरे से प्रेरित अत्यन्त उग्र दुःख है।

तस्मान्निर्गत्य तैरश्चीं गतिं प्राप्यानुभूयते।
भारातिवाहनाद्यं यद्भीमं दुःखमनेकधा॥२८७॥

नरक से निकलकर तिर्यञ्चगति को पाकर अत्यन्त भार वहन करना आदि अनेक प्रकार का भयंकर दुःख है।

कथंचिन्मानुषं जन्म प्राप्तं तत्रापि सह्यते।
अर्थार्जनविहीनत्वाद्दुखं स्वोदरपूर्तये॥२८८॥

कथंचित् मनुष्य जन्म भी प्राप्त हुआ तो उसमें अपने उदर की पूर्ति के लिए अर्थार्जन से विहीन होने के कारण दुःख सहा जाता है।

काकतालीयकन्यायाद्गतिर्दैवी समाप्यते।
तत्रास्ति मानसं दुःखं हीनाधिकविभूतितः॥२८९॥

काकतालीय न्याय से देवगति प्राप्त होती है। उसमें भी हीनाधिक विभूति होने से मानसिक दुःख प्राप्त होता है।

एवमनेकधा दुःखं दुःखं दुखं[1] पुनः पुनः ।
ततो मिथ्यात्वमुत्सृज्य सम्यक्त्वे भावनां कुरु ।।२६०।।

इस प्रकार अनेक प्रकार के दुःख पुनः उठाता रहता है। अतएव मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व में भावना करो।

इत्येवं पंचधा प्रोक्तं मिथ्यादृष्ट्यभिधानकम् ।
नोपादेयमिदं सर्वं मिथ्यात्वविषदोषतः ।।२६१।।

इति[2] प्रथमं मिथ्यात्वं गुणस्थानम् ।

अतः सासादनं नाम गुणस्थानद्वितीयक् ।
निगद्यतेऽत्र मुख्यो हि भावः स्यात्पारिणामिकः ।।२६२।।

अब सासादन नामक द्वितीय गुणस्थान कहा जाता है। इसमें मुख्य पारिणामिक भाव होता है।

सम्यक्त्वासादने नाम वर्तनं यस्य विद्यते ।
सासादन इति[3] प्राहुर्मुनयो भाववेदिनः ।।२६३।।

जिसका वर्तन सम्यक्त्व की आसादना में है, उसे भाव वेदी मुनि सासादन कहते हैं।

अनादिकालसंभूतमिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
स्यादौपशमिकं नाम सम्यक्त्वमादिमं हित त् ।।२६४।।

अनादि काल से उत्पन्न मिथ्या कर्म की उपशान्ति से आदि का (प्रथम) औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

---

१ सुखं. ख. । २ अयं पाठः ख-पुस्तके २९२ श्लोकादुत्तरं । स च 'इत्याद्यऽ-मिथ्यात्वं गुणस्थानं प्रथमं' इत्येवं रूपः । ३ मिति. ख. ।

संत्यज्य वेदकं याति प्रशान्तात्मिकया[1] दृशम् ।
गत्वा वा सादिमिथ्यात्वं द्वितीया सा दृगुच्यते ॥२९५॥

प्रशान्तात्मिक दृष्टि को त्यागकर वेदक सम्यक्त्व जाता है । सादि मिथ्यात्व की ओर गया हुआ वह द्वितीयोपशम कहा जाता है ।

आद्योपशमसम्यक्त्वात् प्रच्युतो याति वामताम् ।
च्युतोऽथवा द्वितीर्[2]यं स्यान्मिथ्यात्वं याति वा न वा ॥२९६॥

आदि उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर विपरीत हो जाता है द्वितीय से च्युत हाकर मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, अथवा नहीं होता है ।

द्विकलम्—

आद्योपशमसम्यक्त्वरत्नाद्रेर्वा परिच्युतः
एकतरोदये जाते मध्येऽनन्तानुबन्धिनाम् ॥२९७॥

समयादावलीषट्कं कालं यावन्न गच्छति ।
मिथ्यात्वभूतलं जीवस्तावत्सासादनो भवेत् ॥२९८॥

आदि उपशम सम्यक्त्व रूपी पर्वत से च्युत हुआ अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक का उदय होने पर जब तक एक समय से छः आवली काल तक जीव जब तक मिथ्यात्व रूपी भूतल पर नहीं जाता है, तब तक सासादन गुणस्थान होता है ।

अपूर्वश्वभ्रजीवेषु लब्ध्यपर्याप्तजन्तुषु ।
सर्वेष्वपि न जायेत सासादनो विनिश्चितम् ॥२९९॥

---

१ प्रशान्तात्मिकयोदृशं क । २ द्वितीयस्मात् ।

अपूर्ण नरक के जीवों में तथा समस्त लब्ध्यपर्याप्त जन्तुओं में सासादन गुणस्थान नहीं होता है, यह निश्चित है।

आहारकद्वयं तीर्थकर्तृत्वनामकर्म च ।
सासादनो न बध्नाति सम्यक्त्वस्य विराधनात् ॥३००॥

सासादन गुणस्थानवर्ती जीव सम्यक्त्व की विराधना से आहारक द्वय तथा तीर्थकर्तृत्व नाम कर्म नहीं बांधता है।

भव्यत्वोदयता तस्य सम्यक्त्वग्रहणाद्विदुः ।
तद्ग्रहणस्य सामर्थ्यात्कियत्कालेन सिद्ध्यति ॥३०१॥

उसकी भव्यत्वोदयता सम्यक्त्व के ग्रहण से मानी गई है। सम्यक्त्व ग्रहण की सामर्थ्य से भव्यत्वोदया कुछ काल में सिद्ध होती है।

पश्य सम्यक्त्वमाहात्म्यं कियत्कालाप्तिसंभवम् ।
ततोऽत्र भावना भव्य ! कर्तव्यार्हनिशं त्वया ॥३०२॥

थोड़े ही समय के लिए जिसका प्राप्त होना सम्भव है, ऐसे सम्यक्त्व के माहात्म्य को देखो। अतः हे भव्य ! तुम रात दिन सम्यक्त्व की भावना करो।

सासा[1]दनगुणस्थानं व्यवहारात्प्रकथ्यते ।
क्षायोपशमिको भावो मुख्यत्वेनेह जायते ॥३०३॥

सासादन गुणस्थान का कथन व्यवहार से किया गया है। इसमें क्षायोपशमिक भाव मुख्य रूप से उत्पन्न होता है।

इति[2] द्वितीयं सासादनं गुणस्थानम् ।

---

१ श्लोकोऽयं ख-पुस्तके नास्ति। २ 'सासादनगुणस्थानं द्वितीयं' इति ख-पाठ।

अथ मिश्र गुणस्थानं प्रकथ्यते यथागमम् ।
क्षायोपशमिको भावो मुख्यत्वेनेह जायते ।।३०४।।

अब आगम के अनुसार मिश्र गुणस्थान कहा जाता है। इसमें क्षायोपशमिक भाव मुख्य रूप से उत्पन्न होता है।

मिश्र कर्मोदयाज्जीवे पर्यायः सर्वघातिजः ।
न सम्यक्त्वं न मिथ्यात्वं भावोऽसौ मिश्र उच्यते ।।३०५।।

जात्यन्तर सर्वघाति के कार्यरूप सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव में न केवल मिथ्यात्व परिणाम होता है और न सम्यक्त्व परिणाम होता है।

अहिंसालक्षणो धर्मो यज्ञादिलक्षणोऽथवा ।
मन्यते समभावेन मिश्रकर्मविपाकतः ।।३०६।।

मिश्रकर्म के विपाक से अहिंसालक्षण धर्म अथवा यज्ञादि-लक्षण धर्म को समभाव से मानता है।

जिनोक्ति मन्यते यद्वदन्योक्ति मन्यत तथा ।
देवे दोषोज्झिते भक्ति[1]स्तथैव दोषसंयुते ।।३०७।।

जिस प्रकार से जिनोक्ति को मानता है, उसी प्रकार से अन्य के कथन को भी मानता है। जिस प्रकार दोषरहित देव में भक्ति रखता है, उसी प्रकार दोषयुक्त के प्रति भी भक्ति रखता है।

निर्ग्रन्था यतयो वन्द्यास्तथैव द्विजतापसाः ।
यत्रैषा जायते बुद्धिर्मिश्रं स्यात्तद्गुणास्पदम ।।३०८।।

---

१ भक्ति. ख ।

निर्ग्रन्थ यति जिस प्रकार वन्दनीय हैं, उसी प्रकार द्विजतापस भी वन्दनीय हैं। जहाँ पर इस प्रकार बुद्धि होती है, इस प्रकार मिश्र गुणस्थान वाला होता है।

गोदुग्धे चार्कदुग्धे वा समताविलबुद्धयः।
हेयोपादेयतत्वेषु यथैते विकलाशयाः ॥३०९॥

गोदुग्ध तथा अर्कदुग्ध में समता से मलिन बुद्धि वालों की तरह ये हेयोपादेय तत्त्वों के प्रति विकल आशय वाले होते हैं।

जैनभावा[1] वदन्त्येवं ममैताः कुलदेवताः।
चंडिकाराममाताद्या महालक्ष्मीर्महालयाः ॥३१०॥

जैन भाव वाले चण्डी, उद्यान, माता, महालक्ष्मी, महालय आदि के विषय में कहते हैं कि ये मेरे कुल देवता हैं।

अर्चन्ति परया भक्त्या प्रनृत्यन्ति तदग्रतः।
ऐहिकाशामहामोहद्[2]व्याकुलीकृतचेतसः ॥३११॥

इस लोक की आशा रूपी महामोह से व्याकुल चित्त वाले वे उत्कृष्ट भक्ति से अर्चना करते हैं और उसके आगे नाचते हैं।

मोहार्त्तः कुरुते श्राद्धं पितॄणां तृप्तिहेतवे।
अजानन् जीव सद्भावगतिस्थित्यादिवर्तनम् ॥३१२॥

जीव के सद्भाव, गति, स्थिति आदि प्रवृत्ति को न जानते हुए पितरों की तृप्ति के लिए मोह से पीड़ित हो श्राद्ध करता है।

---

१ जैनभावो वदत्येवं। २ महामोहव्या. ख.।

इत्येतद्वर्तनं सर्वं मिश्रभावसमाश्रितम् ।
येषां ते मिश्रभावाढ्या भ्रमन्ति भवपद्धतौ ।।३१३।।

इस प्रकार मिश्र भाव से समाश्रित जिनका व्यवहार है, मिश्र भाव से व्याप्त वे संसार मार्ग में भ्रमण करते हैं ।

सम्यग्मिथ्यात्वयोर्मध्ये यदेकतरभावना ।
तया स्यात्तस्य तन्नाम मिश्रं स्थानं ततो न हि ।।३१४।।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मध्य में कोई एक भावना हो तो उसी के अनुसार उसका नाम होता है । अतः मिश्र स्थान नहीं है ।

न ह्येवं सुप्रसिद्धोऽस्ति भावान्तर समुद्भवः ।
सर्वशास्त्रेषु सर्वत्र बालगोपालसम्मतः ।।३१५।।

इस प्रकार दूसरे भाव की उत्पत्ति समस्त शास्त्रों में सब जगह सुप्रसिद्ध नहीं है, यह बात बाल गोपाल सम्मत है ।

जात्यन्तरसमुद्भूतिर्वडवारवरयोर्यथा ।
गुडदंध्नोः समायोगे रसान्तरं यथा भवेत् ।।३१६।।

जिस प्रकार घोड़ी और गधे के संयोग से अन्य जाति की सन्तान उत्पन्न होती है अथवा जिस प्रकार गुड़ और दही के मेल से भिन्न रस की उत्पत्ति होती है ।

तथा धर्मद्वये श्रद्धा जायते समबुद्धितः ।
मिश्रोऽसौ भण्यते तस्माद्भावो जात्यन्तरात्मकः ।।३१७।।

उसी प्रकार समबुद्धि होने से दोनों धर्मों में श्रद्धा उत्पन्न होती है, अतः यह जात्यन्तर रूप मिश्रभाव कहा जाता है ।

सकलाणुव्रते न स्ते नायुर्बन्धो भवेत्क्वचित् ।
मारणान्तं समुद्धातं न कुर्यान्मिश्रभावतः ।।३१८।।

मिश्र भाव के कारण समस्त अणुव्रत नहीं है, न क्वचित् आयु का बन्ध होता है और न मारणान्तिक समुद्घात करता है।

मृत्युं न लभते जीवो मिश्रभावं समाश्रितः ।
सद्दृष्टिर्वामिद्दृष्टिर्वा भूत्वा मरणमश्नुते ।।३१६।।

मिश्र भाव का आश्रय लेने के कारण जीव मृत्यु प्राप्त नहीं करता है। वह सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि होकर मरण करता है।

सम्यग्मिथ्यात्वयोर्मध्ये येनायुरर्जितं पुरा ।
म्रियते तेन भावेन गतिं यान्ति[1] तदाश्रिताम् ।।३२०।।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मध्य में पहले जो आयु अर्जित की थी, उसी भाव से मृत्यु प्राप्त प्राप्त करता है और तदाश्रित गति को जाता है।

मिश्र भावमिमं त्यक्त्वा सम्यक्त्वं भज सन्मते ! ।
मुक्तिकान्तासुखावाप्त्यै यद्यस्ति विपुला मतिः ।।३२१।।

हे अच्छी बुद्धि वाले ! मुक्ति रूपी स्त्री के सुख की प्राप्ति के लिए यदि तेरी विपुल बुद्धि है तो इस मिश्र भाव को छोड़कर सम्यक्त्व का सेवन कर।

इति तृतीयं[2] मिश्रगुण स्थानम् ।

---

१ याति। २ अयं पाठः क-पुस्तके ३२२ श्लोका दुत्तरं। 'मिश्रगुणस्थानं तृतीयं' इत्येवं रूपः ख-पुस्तके पाठः।

असंयतगुणस्थानमतो वक्ष्ये चतुर्थकम् ।
सोपानमादिमं मोक्षप्रासादमधिरोहताम् ॥३२२॥

अब मैं चौथे असंयम गुणस्थान के विषय में कहूँगा, यह मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने वालों के लिए सीढ़ी आदि के तुल्य है ।

तत्रौपशमिको भावः क्षायोपशमिकाव्हयः ।
क्षायिकेश्चेति विद्यन्ते त्रयो भावा जिनोदिताः ॥३२३॥

इस गुण स्थान में औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा इन तीन भावों की विधमानता जिनेन्द्र भगवान् ने कही है ।

अक्षेषु विरतो नैव न स्थावरे वराङ्गिषु ।
द्वितीयानां कषायाणां विपाकादव्रतो यतः ॥३२४॥

वह इन्द्रियों के विषयों में विरत नहीं है तथा स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा से विरत नहीं है, क्योंकि वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ रुप कषायों के विपाक से अव्रती होता है ।

श्रद्धानं कुरुते भव्योह्याज्ञ याधिगमेन वा ।
द्रव्यादीनां यथाम्नायं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥३२५॥

असंयत सम्यग्दृष्टि भव्य आम्नाय के अनुसार अथवा परोपदेश से द्रव्यादि का श्रद्धान करता है ।

परिच्छित्तौ पदार्थानां हर्षोल्लसितचेतसि ।
या रुचिर्जायते साध्वी तच्छ्रद्धानमितिस्मृतम् ॥३२६॥

हर्ष से विकसित चित्त में पदार्थों के ज्ञान में जो भली-प्रकार रुचि होती है, उसे श्रद्धान माना गया है ।

आप्तागमयतीशानां तत्त्वानामल्पबुद्धितः ।
जिनाज्ञयैव विश्वासो भवत्याज्ञा हि सा परा ॥३२७॥

आप्त आगम और यतीशों के (द्वारा कथित) तत्त्वों का अल्प बुद्धि से जिनाज्ञा से विश्वास रखना कि निश्चय से वह ही उत्कृष्ट आज्ञा है (सम्यक्त्व है)

घातिकर्मक्षयोद्भूतकेवलज्ञानरश्मिभिः ।
प्रकाशकः पदार्थानां त्रैलोक्योदरवर्तिनाम् ॥३२८॥

सर्वज्ञः सर्वतोव्यापी त्यक्तदोषो ह्यवंचकः ।
देवदेवेन्द्रवन्द्यांह्रिराप्तोऽसौ परिकीर्तितः ॥३२९॥

घातिकर्मों के क्षय से उद्भूत केवलज्ञान रुपी रश्मियों से त्रैलोक्य के मध्य स्थित पदार्थों का प्रकाशक, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, दोष रहित, अवंचक तथा देव और देवेन्द्रों से जिसके चरण वन्दनीय हैं, वह आप्त कहा जाता है ।

पूर्वापरविरुद्धात्मदोषसंघातवर्जितः ।
यथावद्वस्तुनिर्णीतिर्यत्र स्यादागमो हि सः ॥३३०॥

पूर्वापर विरुद्ध स्वरूप वाले दोष समूह से रहित यथावत् वस्तु का जहां निर्णय होता है, वह आगम है ।

विराजतेऽष्टविंशत्या शुद्धैर्मूलगुणैः सदा ।
भेदाभेदनयाक्रान्तो रत्नत्रयविभूषणैः ॥३३१॥

**ऐहिकाशापरित्यक्तो धर्मशास्त्रार्थतत्परः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तो दशधर्मसमन्वितः ॥३३२॥**

**निःशल्यो निरहंकारः परिग्रहपरिच्युतः ।
पक्षपातोज्झितः शान्तः स मुनिर्वन्द्यते मया ॥३३३॥**

जो अट्ठाईस मूल गुणों से सदा विभूषित, रत्नत्रय के विभूषणों के कारण भेदाभेदनय से आक्रान्त, इस लोक की आशा का परित्यागी, धर्म शास्त्र के अर्थ में तत्पर, राग-द्वेष से रहित, दश धर्म से युक्त, निःशल्य, निरहंकार, परिग्रह से रहित, पक्षपात का त्याग किया हुआ तथा शान्त है, वह मुनि मेरे द्वारा वन्दित होता है ।

**सूक्ष्मे जिनोदिते तत्त्वे नास्ति[1] चेन्महतो मतिः ।
आप्तादितं यथाम्नायं श्रद्धानं[2] क्रियते तथा ॥३३४॥**

सूक्ष्म, जिनोदित तत्त्व के प्रति यदि बृहद् बुद्धि न हो तो आप्त के द्वारा कहे हुए वचनों पर आम्नाय के अनुसार श्रद्धा करता है ।

**एवमाज्ञाभवो भावः प्ररूपितः समासतः[3] ।
अतोऽधिगमभावस्य लक्षणं कथ्यते यथा ॥३३५॥**

इस प्रकार आज्ञा से उत्पन्न भाव का संक्षेप से प्ररूपण किया गया । अब अधिगम भाव का लक्षण कहा जाता है ।

**निश्चीयते पदार्थानां लक्षणं नयभेदतः[4] ।
सोऽधिगमोऽभिमन्तव्यः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः ॥३३६॥**

---

१ विरोधो नैव विद्यते ख. । 2 श्रद्धातव्यं मनीषिभिः ख. । ३ समाहितः ख. । ४ नब. ख. ।

जिस प्रकार पदार्थों का लक्षण नयभेद से निश्चत किया जाता है, उसे सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र के धारकों ने अधिगम माना है।

द्रव्याणि षट्प्रकाराणि जीवोऽथ पुद्गलस्तथा ।
धर्माधर्मनभः काला अतस्तेषां प्ररूपणम् ॥३३७॥

द्रव्य छः प्रकार के होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल। अतएव उनका प्ररूपण किया जाता है।

जीवो हि सोपयोगात्मा कर्ता भोक्ता तनुप्रमः ।
स्वभावेनोर्ध्वगोऽमूर्तः संसारी सिद्धिनायकः ॥३३८॥

जीव उपयोगमयी कर्त्ता, भोक्ता, शरीर परिमाण, स्वभाव से ऊर्ध्वगामी, अमूर्त, संसारी अथवा सिद्धि का नायक है।

जीवितो दशभिः प्राणैर्जीविष्यति च जीवति ।
स जीवः कथ्यते सद्भिर्जीवतत्वविदां वरै ॥३३९॥

जो दश प्राणों से जिया था, जिएगा तथा जी रहा है, उसे जीव तत्त्व को जानने वाले सज्जनों ने जीव कहा है।

जन्तोर्भावो हि वस्त्वर्थ उपयोगः स च द्विधा ।
साकारोऽनिराकारो ज्ञानदर्शनभेदतः[1] ॥३४०॥

जन्तु का भाव ही वस्तुभूत उपयोग पदार्थ है। वह ज्ञान और दर्शन के भेद से साकार और निराकार होता है।

---

१ अस्मादग्रे ज्ञानोपयोगः साकारः, दर्शनोपयोगोऽनाकारः स चोपयोगलक्षण पुस्तकद्वयेऽप्य पाठः ।

उपयोगो हि साकारो ज्ञानलक्षण लक्षितः ।
स चाऽष्टधा भवेन्मिथ्या सम्यग्ज्ञानप्रभेदितः ॥३४१॥

ज्ञान लक्षण से लक्षित उपयोग साकार होता है, वह मिथ्या और सम्यग्ज्ञान के प्रभेद से आठ प्रकार का होता है ।

कुमतिः कुश्रुतज्ञानं विभङ्गाख्योऽवधिस्तथा ।
अज्ञानत्रितयं चेति मिथ्याकर्मफलोद्भवम् ॥३४२॥

कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान तथा विभङ्ग नामक अवधिज्ञान, इस प्रकार के अज्ञान मिथ्यात्व कर्म के फल उत्पन्न होते हैं ।

मतिः श्रुतावधि स्वान्तः केवलं चेति पञ्चधा ।
सम्यग्ज्ञानं भवेत्तस्य वर्तनं स्वार्थगोचरम् ॥३४३॥

मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय तथा केवलज्ञान इस प्रकार पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान होता है । उसकी प्रवृत्ति स्वार्थगोचर होती है ।

स्याद्दर्शनोपयोगस्तु चतुर्भेदमुपागतः ।
निराकारो हि तस्यास्ति स्थितिरान्तर्मुहूर्तिको ॥३४४॥

चार प्रकार का निराकार दर्शनोपयोग होता है । उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है ।

चक्षुर्दर्शनमाद्यं स्यादचक्षुर्दर्शनं ततः ।
अवध्याख्यं च कैवल्यं चतुर्धेति प्रचक्ष्यते ॥३४५॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन तथा केवलदर्शन । इस प्रकार दर्शन चार प्रकार का कहा जाता है ।

अक्षैर्मनोवधिभ्यां वा विशिष्ट वस्तुदर्शनम् ।
तद्दर्शनं भवेत्स्वात्मसंवित्तिः केवलं परम् ॥३४६॥

इन्द्रिय, मन अथवा अवधि से विशिष्ट वस्तु का दर्शन होता है । स्वात्मसंवित्ति केवल दर्शन है ।

स्वयं कर्म करोत्युच्चैः शुभाशुभकल्पतः ।
कर्ताऽसौ कथ्यते सद्भिर्व्यवहारनयाश्रयात् ॥३४७॥

अतिशय शुभाशुभ के विकल्प से जो स्वयं कर्म करता है । सज्जनों के द्वारा व्यवहारनय के आश्रय से उसे कर्ता कहा जाता है ।

तत्फलं च स्वयं भुंक्ते तस्माद्भोक्तेति भंण्यते ।
प्रविस्तारोपसंहाराद्भवत्यङ्गी तनुप्रमः ॥३४८॥

स्वयं कर्म का फल भोगता है, इसलिए भोक्ता कहा जाता है । जीव विस्तार और संकोच से शरीर परिमाण है ।

स्वभावेनोर्ध्वगा शक्तिस्तस्माद्भवेत्तदात्मकः ।
वर्णादिभिर्विहीनत्वादमूर्तो जायते हि सः ॥३४९॥

जीव की शक्ति स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने की है, अतः ऊर्ध्वगमन स्वभावी है । वर्णादि से विहीन होने के कारण वह अमूर्त होता है ।

पंचविधेऽत्र संसारे जीवः संसरति स्वयम् ।
तस्माद्भवति संसारी कृतकर्मप्रचोदितः ॥३५०॥

किए हुए कर्म से प्रेरित हुआ जीव पांच प्रकार के संसार में स्वयं भ्रमण करता है, अतः संसारी होता है ।

प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं भस्मसात्कुरुते स्वयम् ।
कर्मेन्धनानि सर्वाणि तस्मात्सिद्ध इति स्मृतः ।।३५१।।

द्रव्यादि सामग्री को पाकर स्वयं कर्म रूपी ईंधन को भस्म करता है, इस कारण सिद्ध के रुप में माना गया है ।

अवस्थाभेदतो जीवः पुनस्त्रेधा प्रचक्ष्यते ।
बहिरात्मान्तरात्मा च परमात्मेति तत्वतः ।।३५२।।

अवस्था भेद की अपेक्षा जीव तीन प्रकार का कहा जाता है । बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ।

हेयोपादेयवैकल्यान्न च वेत्त्यहितं हितम् ।
निमग्नो विषयाक्षेषु बहिरात्मा विमूढधीः ।।३५३।।

विमूढ़ बुद्धि बहिरात्मा इन्द्रिय विषयों में निमग्न होकर हेय और उपादेय से रहित होने के कारण अहित और हित को नहीं जानता है ।

अन्तरात्मा त्रिधा क्लिष्टमध्यमोत्कृष्टभेदतः ।
असंयतो जघन्यः स्यान्मध्यमौ द्वौ तदुत्तरौ ।।३५४।।

अधम, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से अन्तरात्मा तीन प्रकार की होती है । असंयत जधन्य अन्तरात्मा है, उसके बाद के दो मध्यम अन्तर आत्मा है ।

अप्रमत्तादयः सर्वे यावत्क्षीणकषायकाः ।
उत्तमा यतयः शान्ताः प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ।।३५५।।

अप्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय तक सब उत्तम अन्तरात्मा शान्त यति उत्तरोत्तर समर्थ होते हैं ।

परमात्मा द्विधा सूत्रे सकलो निकलः स्मृतः ।
सकलो भण्यते सद्भिः केवली जिनसत्तमः ॥३५६॥

सूत्र में परमात्मा सकल और निकल के भेद से दो प्रकार के माने गये हैं। सज्जनों ने जिन श्रेष्ठ केवली को सकल परमात्मा कहा है।

निष्कलोमुक्तिकान्तेशश्चिदानन्दैकलक्षणः ।
अनन्त सुखसंतृप्तः कर्माष्टकविवर्जितः ॥३५७॥

मुक्ति रूपी कान्ता के स्वामी चिदानन्दैकलक्षण, अनन्त सुख से सन्तृप्त और आठ कर्मों से रहित निकल परमात्मा हैं।

जीवः[1]

वर्णमेकं रसं गन्धं स्पर्शयुग्मं च गाहते ।
पुद्गलाणुः परः प्रोक्तो गलनपूरणात्मकः ॥३५८॥

दूसरा द्रव्य पुद्गल है। यह एक वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श युगल को व्याप्त करता है तथा उसे पूरण-गलन स्वभावी कहा गया है।

द्वयणुकादि विभेदेन स्निग्धरुक्षत्वसंश्रयात् ।
बन्धोऽन्योन्यं भवेत्तेषां वृद्धिरुपादनेकधा ॥३५९॥

स्निग्ध और रूक्षत्व गुण के आश्रय से द्वयणुकादि के भेद से पुद्गलों का पारस्परिक बन्ध होता है। यह वृद्धि की अपेक्षा अनेक प्रकार का होता है।

---

१ अयं पाठः क–पुस्तके नास्ति ।

शब्दो बन्धस्तमश्छाया सूक्ष्मस्थौल्यातपद्युति ।
भेद संस्थानमित्येते पर्यायास्तस्य कीर्तिताः ।।३६०।।

शब्द, बन्ध, तम, छाया, सूक्ष्म, स्थौल्य, आतप, द्युति, भेद तथा संस्थान ये पुद्‌गल के पर्याय कहे गए हैं ।

पृथ्वी तोयं तथा च्छाया चाक्षुषो नाक्षगोचरः ।
कर्माणि परमाण्वन्तं तेषां सौक्ष[1]म्यं यथोत्तरम् ।।३६१।।

पृथ्वी, जल तथा छाया चाक्षुष है । कर्म से लेकर परमाणु तक इन्द्रिय गोचर नहीं हैं, उनमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है ।

स्थूलस्थूलं तथा स्थूलं स्थूलसूक्ष्मास्ततः परम् ।
सूक्ष्मस्थूलाश्च सूक्ष्माणि सूक्ष्मसूक्ष्मा इति क्रमात् ।।३६२।।

पुद्‌गलों का क्रम इस प्रकार है—स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म; सूक्ष्म स्थूल, सूक्ष्म तथा सूक्ष्म सूक्ष्म ।

पुद्‌गलः ।

गतिहेतुर्भवेद्धर्मो जीवपुद्‌गलयोर्द्वयोः ।
यथोदकं हि मत्स्यानां सन्तिष्ठतोस्था न सः ।।३६३।।

जीव और पुद्‌गल दोनों की गति का हेतु धर्म द्रव्य होता है । जिस प्रकार जल मछलियों की गति में निमित्त होता है किन्तु ठहरते हुए जीव पुद्‌गलों का वह निमित्त नहीं है ।

धर्मः ।

अधर्मः स्थितिदानाय हेतुर्भवति तद्द्वयोः ः
पथिकानां यथाच्छाया गच्छतोः स न धारकः ।।३६४।।

---

१ सूक्ष्मो. ख. ।

जीव और पुद्गलों को ठहराने में अधर्म द्रव्य निमित्त होता है। जिस प्रकार पथिकों के ठहरने में छाया निमित्त है। चलते हुए जीव पुद्गलों को ठहराने में वह निमित्त नहीं है।

अध[1]र्मः।

द्रव्याणामवगाहस्य योग्यं यत्तन्नभो भवेत्।
लोकाकाशमलोकाख्यमाकाशमिति तद्द्विधा ॥३६५॥

जो द्रव्यों के अवगाह के योग्य है, उसका नाम आकाश है। आकाश दो प्रकार का है—लोकाकाश और अलोकाकाश।

आ[2]काशः।

वर्णगन्धादिभिर्मुक्ता असंख्याताः सुनिश्चलाः।
वर्तनालक्षणोपेता जीवपुद्गलयोः परम् ॥३६६॥

तिष्ठन्त्येकैकरूपेण लोकाकाशप्रदेशकान्।
व्याप्य कालाणवो मुख्याः प्रत्येकं रत्नराशिवत् ॥३६७॥

जीव और पुद्गल से भिन्न, गन्धादि से रहित, असंख्यात, सुनिश्चल, वर्तनालक्षण से युक्त, लोकाकाश के प्रदेशों को व्याप्त कर एक-एक रूप में मुख्य रूप से ठहरे हुए रत्नों की राशि में एक-एक रत्न के समान ये कालाणु स्थित हैं।

परिणामः पदार्थानां कालास्तित्वप्रसाधकः।
अन्यथा नवजीर्णादिपर्यायज्ञानता कथम् ॥३६८॥

पदार्थों का परिणाम काल के अस्तित्व का प्रसाधक है, अन्यथा नई, पुरानी आदि पर्यायों का ज्ञान कैसे होगा?

१–२ इमे शब्दाः क–पुस्तके न सन्ति।

नोपचारो विना मुख्यं नरसिंहोपचारवत् ।
तथोपचारमाश्रित्य कालोऽस्ति व्यावहारिकः ।।३६९।।

नृसिंह के उपचार के समान उपचार के बिना मुख्य नहीं है । उपचार का आश्रय कर व्यावहारिक काल है ।

मुख्यकालस्य पर्यायः समयादिस्वरूपवान् ।
व्यवहारो मतः कालः कालज्ञानप्रवेदिनाम् ।।३७०।।

काल के ज्ञान को जानने वालों ने मुख्य काल की पर्यायें जो समयादि रुप वाली हैं, व्यवहारकाल मानी हैं ।

तं कालाणुं समुल्लंध्य मंदं गच्छति पुद्गलः ।
यावता कालमात्रेण स कालः समयात्मकः ।।३७१।।

उस कालाणु का उल्लंघन कर जितने काल मात्र में पुद्गल मन्दगति से गमन करता है वह काल समयात्मक है ।

तस्मादावलिपूर्वा ये मुहूर्ताद्याश्च पर्ययाः ।
मर्त्यक्षेत्रे प्रवर्तन्ते भानोर्गतिवशाद्भुवि ।।३७२।।

आवलि से लेकर मुहूर्तादि जो पयायें मर्त्यक्षेत्र में प्रवृत्त होती हैं, वे पृथ्वी पर सूर्य की गति के वश होती हैं ।

कालः[1] ।

गुणपर्ययवद्द्रव्य सन्दोहो वर्ण्यते बुधः ।
सप्तभंगीं समालिंग्य स्वान्यद्रव्यस्वभावतः ।।३७३।।

विद्वानों ने सप्तभङ्गी को स्वीकार कर अपने और अन्य द्रव्य के स्वभाव के अनुसार गुण और पर्याय वाले द्रव्य के समूह का वर्णन किया है ।

---

१ इमे शब्दाः क–पुस्तके न सन्ति ।

सहभूता गुणा ज्ञेयाः सुवर्णे पीतता यथा ।
क्रमभूतास्तु पर्यायाः जीवे गत्यादयो यथा ।।३७४।।

सुवर्ण में जिस प्रकार पीलापन होता है, उसी प्रकार सहभूत गुण जानना चाहिए । जीव में गति आदि के समान क्रमभूत पर्यायें हैं ।

पर्यायाः प्रभवन्त्येते भेदद्वयसमाश्रिताः ।
अर्थव्यञ्जनभेदाभ्यां वदन्तीति महर्षयः ।।३७५।।

अर्थ और व्यञ्जन रुप दो भेदों का आश्रय कर ये पर्यायें समर्थ होती हैं, ऐसा महर्षि कहते हैं ।

सूक्ष्मोऽवाग्गोचरो वेद्यः केवलज्ञानिना स्वयम् ।
प्रतिक्षणं विनाशी स्यात् पर्यायो ह्यर्थसंज्ञिकः ।।३७६।।

जो सूक्ष्म है, वाणी के गोचर नहीं है, केवलज्ञानियों के स्वयं अनुभव में आती है तथा प्रतिक्षण विनाशी होती है, उस पर्याय की अर्थ संज्ञा है ।

स्थूलः कालान्तरस्थायी सामान्यज्ञानगोचरः ।
दृष्टिग्राह्यस्तु पर्यायो भवेद्व्यञ्जन संज्ञकः ।।३७७।।

जो स्थूल है, दूसरे समय तक रहने वाली है, सामान्य ज्ञान के गोचर हैं, दृष्टि ग्राह्य है, वह व्यञ्जन नाम की पर्याय है ।

द्रव्याण्यनाद्यनन्तानि द्रव्यत्वेन भवन्त्यपि ।
ध्रौव्यव्ययसमुत्पत्तिस्वभावान्यखिलान्यपि ।।३७८।।

द्रव्य अनादि और अनन्त हैं। इन सबमें द्रव्य रूप में होकर भी ध्रौव्य, व्यय और उत्पत्ति स्वभाव वाले हैं।

कालत्रयानुयायित्वं यद्रूपं वस्तुनो भवेत्।
तद्ध्रौव्यत्वमिति प्राहुर्वृषभाद्या गणाधिपाः ॥३७९॥

वृषभ आदि गणाधिपों ने वस्तु का जो रूप तीन कालों का अनुयायी है, उसे ध्रौव्यपना कहा है।

पूर्वाकारान्यथाभावो विनाशो वस्तुनः पुनः।
अपूर्वाकार संप्राप्तिरुत्पत्तिरिति कीर्त्यते ॥३८०॥

वस्तु के पूर्व रूप का अन्य प्रकार से हो जाना विनाश तथा अपूर्व आकार की प्राप्ति उत्पत्ति कही है।

स्वभावेतरपर्याया जीवपुद्गलयोर्द्वयोः।
विभावपर्यया न स्युः शेषद्रव्यचतुष्टये ॥३८१॥

जीव और पुद्गल दोनों में स्वभाव से भिन्न पर्यायें भी होती हैं, शेष चार द्रव्यों में विभाव पर्यायें नहीं होती हैं।

कायत्वमस्ति पंचानां प्रदेशततिसंभवात्।
नास्ति कालस्य कायत्वं प्रदेशतत्यसंभवात् ॥३८२॥

प्रदेशों का समूह होने से पांच द्रव्यों में कायत्व है। प्रदेशों का समूह न होने से काल का कायत्व नहीं हैं।

धर्माधर्मैक जीवानामसंख्येयप्रदेशता।
पुद्गलानां त्रिधा देशा नभोऽनन्तप्रदेशकम् ॥३८३॥

धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गलों के प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनन्त हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी है।

जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरौ निर्जरा तथा ।
मोक्षश्चेति सुतत्वानि सप्त स्युर्जैनशासने ॥३८४॥

जैन शासन में जीव, अजीव, आस्तव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये सात तत्त्व हैं ।

चेतनालक्षणो जीवोऽमूर्तोऽनाद्यविनाशकः ।
अजीवः पंचधा ज्ञेयः पुद्गलादिप्रभेदतः ॥३८५॥

चेतना लक्षण वाला जीव है, जो कि अमूर्त, अनादि और अविनाशी है । पुद्गलादि के भेद से अजीव पांच प्रकार का जानना चाहिए ।

भावास्रवो भवेज्जीवो मिथ्यात्वादिचतुष्टयात् ।
ततो द्रव्यास्रवो योऽसौ कर्माष्टकसमाश्रयः ॥३८६॥

मिथ्यात्वादि चार से जीव के भावास्रव होता है । जो आठ कर्मों के आश्रित होता है, वह द्रव्यास्रव है ।

बध्यते कर्म भावेन येन तद्भावबन्धनम् ।
जीवकर्मप्रदेशानामाश्लेषो द्रव्यबन्धनम् ॥३८७॥

जिस भाव से कर्म बंधता है, वह भाव बन्ध हैं । जीव और कर्म के प्रदेशों का चिपक जाना द्रव्य बन्ध है ।

स प्रकृतिप्रदेशाख्यस्थित्यनुभागभेदभाक् ।
योगैर्द्वावादिमौ स्यातां कषायैर्द्वौ तदुत्तरौ ॥३८८॥

वह बन्ध प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग वाला है । योग से प्रकृति और प्रदेशबन्ध तथा कषायों से स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं ।

कर्मास्रवनिरोधात्मा चिद्भावो भावसंवरः ।
व्रताद्यैः कर्मसंरोधः स भवेद्द्रव्यसंवरः ।।३८९।।

कर्मों के आने के निरोध रूप चैतन्य का भाव भावसंवर है । व्रतादि से कर्म का रोकना द्रव्य संवर है ।

हठात्कार स्वभावाभ्यां जायते कर्मनिर्जरा ।
अविपाका स्वपाकेति द्विविधा सा यथाक्रमम् ।।३९०।।

कर्म निर्जरा हठात्कार और स्वभाव वालो होती है । वह यथाक्रम दो प्रकार की होती है—अविषाका और स्वापाका ।

कर्मक्षयाय यो भावो भावमोक्षो भवत्यसौ ।
जायते द्रव्यमोक्षस्तु जीवकर्मपृथक्क्रिया ।।३९१।।

कर्म क्षय के लिए जो भाव हो, वह भावमोक्ष होता है । जीव और कर्म का पृथक्करण द्रव्यमोक्ष है ।

इत्येवं सप्ततत्वानि तान्येव प्रभवन्त्यपि ।
युक्तानि पुण्यपापाभ्यां पदार्था नव संस्मृताः ।।३९२।।

इस प्रकार सात तत्व होते हैं, वे ही पुण्य और पाप से युक्त होकर नव पदार्थ हो जाते हैं, ऐसा माना गया है ।

पुरोक्तलक्षणः जीवः सम्यक्त्वव्रतभूषितः ।
पुण्यं तद्विपरीतो यः स पापमिति कीर्त्यते ।।३९३।।

सम्यक्त्व और व्रत से भूषित हुआ पूर्वोक्त लक्षण वाला जीव पुण्य है । उससे जो विपरीत है, वह पाप कहा जाता है ।

एवं द्रव्यादि सन्दोहे श्रद्दधानं यथार्थतः।
अनादिकर्मसम्बन्धविच्छित्तौ जायतेऽङ्गिनाम् ॥३६४॥

इस प्रकार द्रव्यादि के समूह का यथार्थ श्रद्धान अनादि कर्म सम्बन्ध की विच्छित्ति होने पर प्राणियों के होता है।

चतुर्गतिभवो भव्यः संज्ञी पूर्णः सुलेश्यकः।
जागरी लब्धिमान् शुद्धो ज्ञानी सम्यक्त्वमर्हति ॥३६५॥

चारों गतियों में उत्पन्न भव्य, संज्ञी, सुलेश्या वाला, जाग्रत, लब्धियुक्त, शुद्ध, तथा ज्ञानी सम्यक्त्व के योग्य होता है।

वारणं तस्य चत्वारो ये चानन्तानुबन्धिनः।
मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वं चेति दृङमोहसप्तकम् ॥३६६॥

इत्यासां प्रकृतीनां नु सप्तानामुपशान्तितः।
प्रोक्तौपशमिका दृष्टिः प्रशान्तपंकतोयवत् ॥३६७॥

उसके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का अभाव, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इस प्रकार दर्शनमोह की सात प्रकृतियों की उपशान्ति से औपशमिक सम्यक् दर्शन कहा गया है। यह प्रशान्त कीचड़ वाले जल के समान होता है।

सर्वघ्नस्पर्धकानां यः पाकाभावात्मकः क्षयः।
सत्तात्मोपशमो यत्र क्षायोपशमिकं हि तत् ॥३६८॥

सर्वघाती स्पर्द्धकों का जो पाकाभावात्मक उदयाभावी क्षय है, जहाँ पर कि सत्तारूप उपशम होता है, वह क्षायोपशमिक है।

उदितास्ते क्षयं याताः स्पर्धकाः सर्वघातकाः ।
शेषाः प्रशमिताः सन्ति क्षायोपशमिकं ततः ।।३६६।।

वे सर्वघाती स्पर्द्धक उदित होकर क्षय हो जाते हैं । शेष प्रशमित हो जाते हैं । तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है ।

यद्वेद्यते चलागाढमालिन्येन पृथक् पृथक् ।
सम्यक्त्वप्रकृतेः पाकात् तस्मात्तद्वेदकाव्हयम् ।।४००।।

सम्यक्त्व प्रकृति के पाक से जो चल, अगाढ़ और मलिन रूप पृथक्-पृथक् वेदन होता है, इस कारण वह वेदक सम्यक्त्व (कहा जाता) है ।

एतत्संसारविच्छित्यै जायते देहिनां खलु ।
मौढ्यादिदोषनिर्मुक्तं निःशंकाद्यङ्गसंयुतम् ।।४०१।।

मूढ़ता आदि दोष से युक्त तथा निःशंकित आदि अंगों से युक्त ये प्राणियों के संसार को नष्ट करने के लिए होते हैं ।

सूर्यार्घो वन्हिसत्कारो गोमूत्रस्य निषेवणम् ।
तत्पृष्ठान्तनमस्कारो भृगुपादादिसाधनम् ।।४०२।।

देहलीगेहरत्नाश्वगजशस्त्रादिपूजनम् ।
नदीहृदसमुद्रेषु मज्जनं पुण्यहेतवे ।।४०३।।

संक्रान्तौ च तिलस्नानं दानं च ग्रहणादिषु ।
सन्ध्यायां मौनमित्यादि त्यज्यतां लोकमूढ़ताम् ।।४०४।।

सूर्य को अर्ध देना, अग्नि की पूजा करना, गोमूत्र का सेवन करना, गोयोनि को नमस्कार करना, पर्वत आदि से गिरना, देहली, घर, रत्न, घोड़ा, हाथी, शस्त्रादि की पूजा

करना, पुण्य के लिए नदी, तालाब, समुद्रों में स्नान करना, संक्रान्ति में तिल लगाकर स्नान करना, ग्रहणादि पर दान देना, सन्ध्या के समय मौन धारण करना, इन सब लोक मूढ़ताओं को छोड़ो।

ऐहिकाशावशित्वेन कुत्सितो देवतागणः।
पूज्यते भक्तितो बाढं सा देवमूढ़ता मता ॥४०५॥

इस लोक की आशा के वशवर्ती होकर कुदेवताओं की जो भक्ति पूर्वक पूजा की जाती है, वह देवमूढ़ता मानी गई है।

दृष्ट्वा मंत्रादिसामर्थ्यं पापि पाषण्डिचारिणाम्।
उपास्तिः क्रियते तेषां सा स्यात्पाषण्डिमूढता ॥४०६॥

पापी पाखण्डी के रूप में विचरण करने वालों की मंत्रादि की सामर्थ्य के अनुसार उनकी जो उपासना की जाती है, वह पाखण्डिमूढ़ता है।

ज्ञानं पूजा तपो वित्तं कुलं जातिर्बलं वपुः।
एतानाश्रित्य गर्वित्वं तन्मदाष्टकमिष्यते ॥४०७॥

ज्ञान, पूजा, तप, धन, कुल, जाति, बल और शरीर का आश्रय कर गर्व करना, आठ प्रकार का मद कहा गया है।

कुदेवः कुमतालम्बी कुशास्त्रं कुत्सितं तपः।
कुशास्त्रज्ञः कुलिंगीति स्युरनायतनानि षट् ॥४०८॥

कुदेव, कुमतालम्बी, कुशास्त्र, कुतप, कुशास्त्र का ज्ञाता और कुलिंगी, ये छः अनायतन होते हैं।

समीचीनमिदं रूपं कुदेवस्येति जल्पनम् ।
इत्यादिभावना भव्यैस्त्याज्यानायतनात्मिका ।।४०६।।

कुदेव का यह रूप ठीक है, इस प्रकार कहना, इत्यादि अनायतन रूप भावना भव्यों को छोड़ देनी चाहिए ।

इदमेवेदृशं तत्वं जिनोक्तं तन्न चान्यथा ।
इत्य[1]कंपा रुचिर्यासो निः[2]शंकाङ्गं तदुच्यते ।।४१०।।

तत्त्व यही है, ऐसा ही है । जिनेन्द्र भगवान् ने जो कहा है, वह अन्यथा नहीं है, इस प्रकार जो अकम्प रुचि होती है, उसे निःशंकित अंग कहते हैं ।

संसारेन्द्रियभोगेषु सर्वेषु भंगुरात्मसु ।
निरीह भावना यत्र सा निष्कांक्षा स्मृता बुधैः ।।४११।।

क्षणभंगुर, संसार और समस्त इन्द्रिय भोगों के प्रति जहां निरीहभावना है, उसे विद्वानों ने निःकांक्षित अंग माना है ।

स्वभावमलिने देहे रत्नत्रयपवित्रिते ।
जुगुप्सारहितो भावो सा स्यान्निर्विचिकित्सिता ।।४१२।।

जो देह स्वभाव से मलिन किन्तु रत्नत्रय से पवित्र है, उसके प्रति घृणा का भाव न रखना निर्विचिकित्सा अङ्ग है ।

दोषदृष्टेषु[3] शास्त्रेषु तपस्विदेवतादिषु ।
चित्तं न मुह्यते कापि तदमूढत्वं निगद्यते ।।४१३।।

जिनमें दोष दिखाई दें, ऐसे शास्त्रों में तपस्वी और देवताओं आदि में किसी प्रकार चित्त मोहित नहीं होता है, वह अमूढ़त्व अंग कहा गया है ।

---

१ इत्यशंका. ख. । २ निःशंकत्वं. । ३ दुष्टेषु. ख. ।

रत्नत्रयोपयुक्तस्य जनस्य कस्यचित्क्वचित् ।
गोपनं प्राप्तदोषस्य तद्भवत्युपगूहनम् ॥४१४॥

रत्नत्रय से युक्त किसी व्यक्ति का क्वचित् दोष प्राप्त हो तो उसका ढ़ांकना उपगूहन अंङ्ग है ।

दर्शनाज्[1]ज्ञानतो वृत्ताच्चलतां गृहमेधिनाम् ।
यतीनां स्थापनं तद्वत्स्थितीकरणमुच्यते ॥४१५॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र से डगमग होते हुए गृहस्थों अथवा यतियों का सच्चे मार्ग में स्थापन करना स्थितिकरण कहलाता है ।

रोगार्दितश्रमार्तानां साधूनां गृहिणामपि ।
यथायोग्योपचारस्तद्वात्सल्यं धर्मकाम्यया ॥४१६॥

रोग से पीड़ित श्रम से पीड़ित साधुओं और गृहस्थों का धर्म की कामना से यथायोग्य उपचार करना (सेवा करना) वात्सल्य कहलाता है ।

मिथ्यातमस्त्वपाकृत्य सद्धर्मोद्योतनं परम् ।
क्रियते शक्तितो बाढं सैषा प्रभावना मता ॥४१७॥

मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को दूर हटाकर उत्कृष्ट रूप से सद्धर्म का अपनी शक्ति के अनुसार उद्योतन करना प्रभावना मानी गई हैं ।

एवमष्टांगसंयुक्तं सम्यक्त्वं स्याद्भवापहन् ।
साधकः सर्वकार्येषु मंत्रः पूर्णाक्षरो यथा ॥४१८॥

---

१ दुष्टेषु. ख. ।

इस प्रकार आठ अङ्गों से संयुक्त सम्यक्त्व भव को नष्ट करने वाला होता है, जिस प्रकार पूर्ण अक्षरों वाला मन्त्र समस्त कार्यों का साधक होता है।

दृग्मोहक्षयसंभूतौ यच्छ्रद्धानमनुत्तरं ।
भवेत्तत्क्षायिकं नित्यं कर्मसंघातघातकम् ॥४१९॥

दर्शन मोह के क्षय हो जाने पर जो अनुत्तर श्रद्धान है, वह क्षायिक होता है। वह नित्य रूप से कर्मों के समूह का घातक होता है।

नानावाग्भिर्बहूपायैर्भीष्मरूपैश्च दुर्धरैः ।
त्रिदशाद्यै र्न चाल्येत तत्सम्यक्त्वं कदाचन ॥४२०॥

वह सम्यक्त्व नाना प्रकार की वाणी, अनेक उपाय तथा भयंकर रूप को धारण करने वाले दुर्धर देवादि के द्वारा चालित नहीं होता है।

क्षायिकीदृक्क्रियारम्भी केवलिक्रमसन्निधौ ।
कर्मक्ष[1]माजो नरस्तत्र क[2]श्चिन्निष्ठापको भवेत् ॥४२१॥

केवली के चरण सान्निध्य में सम्यग्दर्शन की क्षायिकी क्रिया का आरम्भ करने वाला, कर्म को नष्ट करने वाला कोई व्यक्ति निष्ठापक होता है।

लब्धमृत्युर्नरः कश्चिद्बद्धायुष्कः प्रगच्छति ।
यस्यां गतौ हि तत्रैव पूर्णतां कुरुते ध्रुवम् ॥४२२॥

---

१ कर्मक्षमाण्यो इति पृथग्वि भक्त्यन्त पदं ख-पुस्तके ।
२ अस्य स्थाने क्वचिदिति संभाव्यते ।

बद्ध आयु वाला कोई मनुष्य मृत्यु को प्राप्त कर जिस गति में जाता है, निश्चित रूप से उसी में पूर्णता करता है।

इत्येकेनैव संयुक्तः स्याद्भव्योऽसंयमाह्वयः ।
द्वितीयानां कषायाणामुदयादव्रतो हि सः ॥४२३॥

इस प्रकार एक से ही संयुक्त वह भव्य, असंयमी, अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों के उदय से अव्रती ही होता है।

प्रशमास्तिक्यसंवेगाः सहानुकम्पया गुणाः ।
विद्यन्ते हृदये यस्य स स्यात्सम्यक्त्वभूषितः ॥४२४॥

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण जिसके हृदय में विद्यमान हैं, वह सम्यक्त्व से भूषित होता है।

ततस्तु व्रतहीनोऽपि प्राणिघाताय नोद्यमी ।
प्राणिघातनशीलः स्यात्सम्यक्त्वस्यातिदूरगः ॥४२५॥

व्रत से हीन होने पर भी प्राणिघात के लिये उद्यम न हो। प्राणियों का घात करना जिसका स्वभाव है, वह व्यक्ति सम्यक्त्व से अत्यन्त दूर है।

काकतालीयकन्यायात् सम्यक्त्वं जा[1]तमात्रकम् ।
जीवस्यानन्तसंसारं संख्यात्मिकां स्थितिं नयेत् ॥४२६।

काकतालीय न्याय से उत्पन्न होने वाला सम्यक्त्व जीव के अनन्त संसार को संख्यात्मक स्थिति में ले आता है।

---

१ याति. क.।

भावनादित्रिषु स्त्रीषु षट्स्वधःश्वभ्रभूमिषु ।
अवस्थायामपूर्णायां न हि सम्यक्त्वसंभवः ॥४२७॥

भवनवासी, ज्योतिषी और व्यन्तर देवों में, स्त्रियों में, नीचे के छह नरक की पृथिवियों में तथा अपर्याप्तक अवस्था में सम्यक्त्वी उत्पन्न नहीं होता है ।

यस्य सम्यक्त्वसम्भूतिरायुर्बन्धेऽथ दुर्गतौ ।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः ॥४२८॥

दुर्गति में आयु बंधने के अनन्तर जिसके सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, उसके गति का विनाश नहीं होता है, फिर भी स्थिति अल्पतर हो जाती है ।

आयुर्बन्धे चतुर्गत्यां यदि सम्यक्त्वसंभवः ।
देवायुर्बन्धनं मुक्त्वा नाप्येतेऽणुमहाव्रते ॥४२९॥

देवायु के बन्धन को छोड़कर चारों गतियों में आयु का बन्ध होने पर यदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति हुई हो तो ये अणुव्रत और महाव्रत नहीं होते हैं।

क्षयोपशमसद्दृष्टिः पदं प्राप्नोति दुर्लभम् ।
सुदैवं स्वर्गलोकेषु मानुषं कर्मभूमिषु ॥४३०॥

क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि स्वर्गलोक में उत्तम देव तथा कर्म भूमियों में दुर्लभ मनुष्य पद को पाता है ।

लब्ध्वा क्षायिकसम्यक्त्वमेकतृतीयतुर्यके ।
भवे मुक्तिं प्रयात्यङ्गी नास्त्यतोऽन्यभवाश्रयः ॥४३१॥

क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर पहले, तीसरे अथवा चौथे भव में प्राणी मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य भवों का आश्रय नहीं लेना पड़ता।

आर्त्तरौद्रं भवेद्ध्यानं तत्र मन्दत्वभागतम्।
आर्तं चतुर्विधं प्रोक्तं रौद्रध्यानं च तद्विधम् ॥४३२॥

वहाँ आर्त्त और रौद्रध्यान मन्द हो जाते हैं। आर्त्तध्यान चार प्रकार का होता है और रौद्र ध्यान भी चार प्रकार का होता है।

अनिष्टयोगसम्भूतिरिष्टार्थस्य वियोगता।
अप्राप्तिरिच्छि[1]तार्थस्य चतुर्थं स्यान्निदानकम् ॥४३३॥

अनिष्ट योगज, इष्ट वियोगज, इच्छित अर्थ की प्राप्ति न होना तथा निदान, इस प्रकार चार तरह का आर्त्त ध्यान होता है।

आर्त्तध्यानवशाज्जीवः करोत्यशुभबन्धनम्।
बद्धायुष्को मृतिं लब्ध्वा तैरश्चीं गतिमश्नुते ॥४३४॥

आर्त्त ध्यान के वश जीव अशुभबन्धन करता है। बद्धायुष्क मृत्यु को प्राप्त कर तिर्यञ्च गति को प्राप्त करता है।

हिंसानन्दो मृषानन्दः स्तेयानन्दस्तृतीयकः।
तुर्यः संरक्षणानन्दो रौद्रध्यानस्य पर्ययाः ॥४३५॥

रौद्रध्यान के चार भेद हैं—१. हिंसानन्दी २. मृषानन्दी ३. स्तेयानन्दी और ४. संरक्षणानन्दी।

---

१ रीप्सितार्थस्य. ख.।

रौद्रध्या[1]नेऽथ जीवेन कषायविषमोहिना ।
आ[2]द्यश्वभ्रावनौ जन्म बद्धायुष्केण लभ्यते ॥४३६॥

रौद्रध्यान होने पर कषायरूपी विष के मोह से बद्धायुष्क जीव प्रथम नरक की पृथिवी को प्राप्त करता है ।

गौणवृत्या भवेत्तस्य धर्मध्यानं कथंचन ।
आप्तोपज्ञस्य शास्त्रस्य चिन्तनश्रवणात्मकम् ॥४३७॥

कथंचन गौण रूप से उसके आप्त के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र के चिन्तन श्रवण रूप धर्मध्यान होता है ।

मनः सदर्थाधिगमे प्रवृत्तं वाक् पाठयोगे नयने च वर्णे ।
श्रुती श्रुतौ निश्चलविग्रहश्च ध्यानेऽपि चैकाग्रयमिहापि सौम्यं ॥१॥

मन यथार्थ अर्थ की जानकारी में प्रवृत्त होता है, वाणी पाठ करती है, दोनों नेत्रों का वर्णों से योग होता है, दोनों कान शास्त्र श्रवण में लगते हैं, शरीर निश्चल होता है, ध्यान में एकाग्रता आती है और संसार में भी सौम्यता आती है ।

असंयतो निजात्मानमकेवारं दिनं प्रति ।
ध्यायत्यनियतं कालं नो चेत्सम्यक्त्वदूरगः ॥४३८॥

असंयत होने पर भी प्रतिदिन एक बार अनियत काल यदि अपनी आत्मा का ध्यान करता है तो वह सम्यक्त्व से दूर नहीं होता है ।

प्रवचनतिलक में कहा है—

---

१ ध्यानेन जीवेन. ख. । २ आद्यः ख. ।

अविरियसम्माइट्ठी णियमियवेलादियं ण कुव्वंतो ।
पडि पडि दिणमिगिवारं सो झायदि अप्पगं सुद्धं[1] ॥१॥

अविरति सम्यग्दृष्टि नियमित वेला में न कर भी दिन में एक बार शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है ।

ईदृशं भेद सम्यक्त्वं साधकं निश्चयात्मनः ।
निश्चयात्म्यं निजात्मैव तत्साध्यं स्यान्मनीषिभिः ॥४३६॥

इस प्रकार के भेद वाला सम्यक्त्व निश्चयात्मा का साधक होता है । निश्चयात्मा निजात्मा ही है, वह मनीषियों के द्वारा साध्य है ।

असंयत गुणस्थानं चतुर्थं प्रतिपादितम् ।
देश संयमिनो धाम पंचमं कथ्यतेऽधुना ॥४४०॥

चौथे असंयत गुणस्थान का प्रतिपादन किया गया । अब देशसंयमनामक पंचम गुणस्थान का कथन किया जाता है ।

इति चतुर्थ संयत गुणस्थानम् ।

अतो देशव्रताभिख्येगुणस्थाने हि पंचमे ।
भावास्त्रयोऽपि विद्यन्ते पूर्वोक्त लक्षणा इह ॥४४१॥

---

१ सुक्खं ख, अस्या अग्रे इमें अस्पष्टे गाथे ख–पुस्तके । तथा चोक्तं दशवैकालिक-ग्रन्थे—

जो पुव्वस्त चरत्तकाले संपिक्खई अप्पगमप्पणेणं ।
किमेकदं किच्चमकिच्चसेसं किं सक्कणिज्जं णुसयाणरामि ॥१॥

किं मेसरो पस्सइ किं व अप्पा दोसागयं किं ण विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपस्समाणो अण (णा) गयं णो पडिबंध कुज्जा ॥२।

देशवृत नामक पंचम गुणस्थान में पूर्वोक्त लक्षण वाले तीन भाव विद्यमान रहते हैं ।

प्रत्याख्यानोदयाज्जीवो नो धत्तेऽखिलसंयमम् ।
तथापि देशसंत्यागात्संयतासंयतो मतः ।।४४२।।

प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जीव सकल संयम को धारण नहीं करता है । तथापि एक देश त्याग से संयता-संयत माना गया है ।

विरतिस्त्रसघातस्य मनोवाक्काययोगतः ।
स्थावराङ्गिविधातस्य प्रवृत्तिस्तस्य कुत्रचित् ।।४४३।।

संयता-संयत गुणस्थान वाला त्रस जीवों की हिंसा से मन, वचन, काय से विरत होता है । उसकी क्वचित स्थावर जीवों के विधान की प्रवृत्ति होती है ।

विरताविरतस्तस्माद्भण्यते देशसंयमी ।
प्रतिमालक्षणास्तस्य भेदा एकादश स्मृताः ।।४४४।।

विरताविरत होने से देशसंयमी कहा जाता है । प्रतिमा लक्षणों के अनुसार उसके ग्यारह भेद माने गये हैं ।

आद्यो दर्शनिकस्तत्र व्रतिकः स्यात्ततः पर[1]म् ।
सामायिकव्रती चाथ सप्रोषधोपवासकृत् ।।४४५।।

सचित्ताहारसंत्यागी दिवास्त्रीभजनोज्झितः ।
ब्रह्मचारी निरारम्भः परिग्रहपरिच्युतः ।।४४६।।

---

१ वरम् ख. ।

तस्मादनुमतोद्दिष्टविरतौ द्वाविति क्रमात् ।
एकादश विकल्पाः स्युः श्रावकाणां क्रमादमी ॥४४७॥

दार्शनिक, व्रतिक, सामायिकव्रती, प्रोषधोपवासकृत, सचिन्ताहार त्यागी, दिवास्त्रीसेवन त्यागी, ब्रह्मचारी, निरारम्भी, परिग्रह त्यागी, अनुमतिविरत, उद्दिष्टविरत । इस प्रकार ये ग्यारह श्रावकों के क्रम होते हैं ।

गृही दर्शनिकस्तत्र सम्यक्त्वगुणभूषितः ।
संसारभोगनिर्विण्णो ज्ञानी जीवदयापरः ॥४४८॥

सम्यक्त्व रूपी गुण से भूषित दार्शनिक श्रावक संसार और भोग के प्रति विरक्त, ज्ञानी और जीवदयापरायण होता है ।

माक्षिकामिषमद्यं च सहोदुम्बरपंचकैः ।
वेश्या पराङ्गना चौर्यं द्यूतं नो भजते हि सः ॥४४९॥

वह मद्य, माँस, मधु, पंच उदुम्बर फल, वेश्या, परस्त्री, चौर्य तथा जुए का सेवन नहीं करता है ।

दर्शनिकः प्रकुर्वीत निशि भोजनवर्जनम् ।
यतो नास्ति दयाधर्मो रात्रौ भुक्तिं प्रकुर्वतः ॥४५०॥

दार्शनिक श्रावक रात्रि में भोजन नहीं करता है, क्योंकि रात्रि भोजन करने वाले के दयाधर्म नहीं है ।

दर्शनप्रतिमा ।

स्थूलहिंसानृतस्तेयपरस्त्री चाभिकां[1]क्षता ।
अणुव्रतानि पंचैव तत्त्यागात्स्यादणुव्रती ।।४५१।।

स्थूल हिंसा, अमृत, स्तेय और परस्त्री की अभिलाषा का का त्याग ये पाँच अणुव्रत होते हैं। इनके त्याग से अणुव्रती होता है।

योगत्रयस्य सम्बन्धात्कृतानुमतकारितैः ।
न हिनस्ति त्रसान् स्थूलमहिंसाव्रतमादिमम् ।।४५२।।

मन, वचन, काय के सम्बन्ध से कृत, कारित, अनुमोदना से त्रस जीवों की हिंसा न करना पहला स्थूल अहिंसाव्रत है।

न वदत्यनृतं स्थूलं न परान् वादयत्यपि ।
जीवपीडाकरं सत्यं द्वितीयं तदणुव्रतम् ।।४५३।।

जो जीव पीड़ाकारी स्थूल झूठ नहीं बोलता है और न दूसरे से बुलवाता है। उसके द्वितीय सत्याणुव्रत होता है।

अदत्तपरवित्तस्यः निक्षिप्तविस्मृतादितः ।
तत्परित्यजनं स्थूलमचौर्यं व्रतमूचिरे ।।४५४।।

न दिए हुए धन का, धरोहर के भूल जाने आदि का परित्याग करना स्थूल अचौर्यव्रत कहलाता है।

मातृवत्परनारीणां परित्यागस्त्रिशुद्धितः ।
स स्यात्पराङ्गनात्यागो गृहिणां शुद्धचेतसाम् ।।४५५।।

मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक माता के समान परस्त्री का त्याग करना शुद्ध चित्त वाले गृहस्थों का परस्त्री त्याग व्रत होता है।

---

१ ति ख.।

धनधान्यादिवस्तूनां संख्यानं मुह्यतां विना ।
तदणुव्रतमित्याहुः पंचमं गृहमेधिनाम् ॥४५६॥

मोह के बिना धन-धान्यादि वस्तुओं का परिमाण रखना गृहस्थों का पाँचवां अणुव्रत कहा गया है ।

शोलव्रतानि तस्येह गुणव्रतत्रयं यथा ।
शिक्षाव्रतं चतुष्कं च सप्तैतानि विदुर्बुधाः ॥४५७॥

उस गृहस्थ के तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शीलव्रत विद्वानों ने कहे हैं ।

दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः क्रियते तथा[1] ।
दिग्व्रतत्रयमित्याहुर्मुनयो व्रतधारिणः ॥४५८॥

दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रत । इन तीनों को व्रत-धारी मुनियों ने दिग्व्रतत्रय कहा है ।

कृत्वा संख्यान माशायां ततो बहिर्न गम्यते ।
यावज्जीवं भवत्येतद्दिग्व्रतमादिमं व्रतम् ॥४५९॥

दिशाओं का परिमाण कर जीवनपर्यन्त जो उसके बाहर नहीं जाता है, उसके आदि दिग्व्रत नामक व्रत होता है ।

कृत्वा कालावधिं शक्त्या क्रियत्प्रदेशवर्जनम् ।
तद्देशविरतिर्नाम व्रतं द्वितीयकं विदुः ॥४६०॥

शक्तिपूर्वक काल की सीमा नियत करके किन्हीं प्रदेशों के परित्याग करने को द्वितीय देशविरतिव्रत कहते हैं ।

---

१ यथा. ख. ।

खनित्रविषशस्त्रादेर्दानं स्याद्वधहेतुकम् ।
तत्यागोऽनर्थदण्डानां वर्जनं तत्तृतीयकम् ॥४६१॥

खोदने के उपकरण, विष, शस्त्र आदि का दान वध का हेतु होता है, उसका त्याग करना अनर्थदण्ड त्याग रूप तृतीय व्रत होता है ।

सामायिकं च प्रोषधविधिं च भोगोपभोगसंख्यानम् ।
अतिथीनां सत्कारो वा शिक्षाव्रतचतुष्कं स्यात् ॥४६२॥

सामायिक, प्रोषधविधि, भोगोपभोगसंख्यान तथा अतिथियों का सत्कार । ये चार शिक्षाव्रत होते हैं ।

सामायिकं प्रकुर्वीत कालत्रये दिनं प्रति ।
श्रा[1]वको हि[2] जिनेन्द्र[3]स्य जिनपूजापुरःसरम् ॥४६३॥

श्रावक को जिनपूजापूर्वक दिन में तीन बार सामायिक करना चाहिए ।

कः पूज्यः पूजकस्तत्र पूजा च कीदृशी मता ।
पूज्यः शतेन्द्रवन्द्यांह्रिर्निर्दोषः केवली जिनः ॥४६४॥

पूज्य कौन है ? पूजक कौन है ? पूजा कैसी मानी गई है ? सौ इन्द्रों के द्वारा जिनके चरणों की वन्दना की जाती है, ऐसे निर्दोष केवली जिन पूज्य हैं ।

भव्यात्मा पूजकः शान्तो वेश्यादिव्यसनोज्झितः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः स शू[3]द्रो वा सु[4]शीलवान् ॥४६५॥

---

१ श्रावकेण क. । २ हीति नास्ति क-पुस्तके । ३ 'सच्छूद्रो वा' इति सुभाति । ४ दृढव्रती ख. ।

वेश्यासेवनादि व्यसनों को छोड़ने वाला शान्त भव्यात्मा पूजक है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा सुशील शूद्र होता है। 'जिन संहिता' में कहा है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः स शूद्रो वा सुशीलवान् ।।१।।❀

वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व सुशीलवान् होता है।

अन्येषां नाधिकारित्वं ततस्तैः प्रविधीयताम् ।
जिनपूजां विना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया ।।४६६।।

अन्य लोगों की अधिकारता नहीं हैं, अतः उन्हें जिनपूजा के बिना समस्त दूरवर्ती सामायिक क्रियायें करना चाहिए।

जिनपूजा प्रकर्तव्या पूजाशास्त्रोदितक्रमात् ।
यथा संप्राप्यते भव्यैर्मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ।।४६७।।

पूजा शास्त्र में कहे हुए क्रम से जिन पूजा करना चाहिए, जिससे भव्य निरन्तर मोक्ष सुख प्राप्त करे।

तावत्प्रातः समुत्थाय जिनं स्मृत्वा विधीयताम् ।
प्राभातिको विधिः सर्वः शौचाचमनपूर्वकम् ।।४६८।।

प्रातःकाल उठकर जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण कर शौच तथा आचमन पूर्वक समस्त प्रातःकालीन विधि करना चाहिए।

ततः पौर्वाह्णिकी सन्ध्याक्रियां समाचरेत्सुधीः ।
शुद्धक्षेत्रं सामाश्रित्य मंत्रवच्छुद्धवारिणा ।।४६९।।

❀ शूद्र से यहां सत्शूद्र अर्थात् जो जाति से वैश्य है पर चमड़ें आदि का व्यापार करता है। कर्मशूद्र ही यहां इष्ट हैं। जन्म शूद्र कभी पूजा का अधिकारी नहीं है। कुछ लोगों का ऐसा मत है।

अनन्तर उत्तम बुद्धि वाला शुद्ध क्षेत्र का आश्रय लेकर मन्त्रयुक्त शुद्धजल से पौर्वाह्निकी सन्ध्या क्रिया को करे।

पश्चात् स्नानविधिं कृत्वा धौतवस्त्रपरिग्रहः।
मंत्रस्नानं व्रतस्नानं कर्त्तव्यं मंत्रवत्ततः ॥४७०॥

पश्चात् स्नानविधि कर, धोए हुए वस्त्र को पहिनकर मन्त्रयुक्त मन्त्रस्नान और व्रतस्नान को करें।

एवं स्नानत्रयं कृत्वा शुद्धित्रयसमन्वितः।
जिनावासं विशेन्मंत्री समुच्चार्य निषेधिकाम् ॥४७१॥

मन्त्रयुक्त इस प्रकार तीनों स्नानकर तीनों प्रकार की शुद्धि से युक्त हो 'निःसही' का उच्चारण कर जिनवास में प्रवेश करे।

कृत्वेर्यापथसंशुद्धिं जिनं स्तुत्वातिभक्तितः।
उपविश्य जिनस्याग्रे कुर्याद्विधिमिमां पुरा ॥४७२॥

ईर्यापथसंशुद्धिकर अतिभक्तिपूर्वक जिन स्तुति कर जिनेन्द्र भगवान् के आगे बैठकर पहले इस विधि को करे।

तत्रादौ शोषणं स्वांगे दहनं प्लावनं ततः।
इत्येवं मंत्रविन्मंत्री स्वकीयाङ्गं पवित्रयेत् ॥४७३॥

आदि में अपने अङ्ग में शोषण, दहन, प्लावन करके मंत्र को जानने वाला मंत्री अपने अङ्ग को पवित्र करे।

हस्तशुद्धिं विधायाथ प्रकुर्यात्सकलीक्रियाम्।
कूटबीजाक्षरैर्मंत्रैर्दशदिग्बंधनं ततः ॥४७४॥

अनन्तर हस्तशुद्धि कर सकलीकरण कर कूट बीजाक्षरों से युक्त दशों दिशाओं के बन्धन को करे।

पूजापात्राणि सर्वाणि समीपीकृत्य सादरम् ।
भूमिशुद्धि विधायोच्चैर्दर्भाग्निज्वलनादिभिः ॥४७५॥

भूमिपूजां च निर्वृत्य ततस्तु नागतर्पणम् ।
आग्नेय दिशि संस्थाप्य क्षेत्रपालं प्रतृप्य च ॥४७६॥

स्नानपीठं दृढं स्थाप्य प्रक्षाल्य शुद्धवारिणा ।
श्रीबीजं च वि‍लिख्यात्र गन्धाद्यैस्तत्प्रपूजयेत् ॥४७७॥

समस्त पूजापात्रों को आदरपूर्वक समीपकर दर्भाग्निज्वलनादि से भूमिशुद्धिकर भूमिपूजा और नागतर्पण कर, आग्नेय दिशा में स्थापित कर, क्षेत्रपाल कर तृप्त कर, स्नान के पीठ को स्थापित कर शुद्धजल से धोकर श्री नामक बीजाक्षर को लिखकर गन्धादि से उसकी पूजा करे।

परितः स्नानपीठस्य मुखार्पितसपल्लवान् ।
पूरितांस्तीर्थसन्तोयैः कलशांश्चतुरो न्यसेत् ॥४७८॥

स्नानपीठ के चारों ओर, जिनके मुख पर पत्ते रखे हुए हैं और तीर्थों के जलों से जो भरे हुए हैं, ऐसे चार कलश रखे ।

जिनेश्वरं समभ्यर्च्य मूलपीठोपरिस्थितम् ।
कृत्वाव्हानविधि सम्यक् प्राप्येत्स्नानपीठिका[1]म् ॥४७९॥

मूल पीठ पर स्थित जिनेश्वर की अर्चना कर भले प्रकार आह्वान विधि कर स्नान के पीठ पर पहुंचाए ।

---

१. कं. क. ।

कुर्यात्संस्थापनं तत्र सन्निधानविधानकम् ।
नीराजनैश्च निर्वृत्य जलगन्धादिभिर्यजेत् ॥४८०॥

वहाँ पर संस्थापन करे । सन्निधान विधान और आरती आदि से निवृत्त होकर जल, गन्धादि से यजन करे ।

इन्द्राद्यष्टदिशापालान् दिशाष्टसुःनिशापतिम् ।
रक्षोवरुणयोर्मध्ये शेषमीशानशक्रयोः ॥४८१॥

न्यस्याव्हानादिकं कृत्वा क्रमेणैतान् मुदं नयेत् ।
बलिप्रदानतः सर्वान् स्वस्वमंत्रैर्यथादिशम् ॥४८२॥

आठ दिशाओं में इन्द्रादि आठ दिग्पालों को, राक्षस और वरुण के मध्य में चन्द्रमा को शेष/धरणेन्द्र को ईशान और शक्र के माध्य में रखकर आह्वानादिक कर क्रम से यथादिष्ट अपने-अपने मंत्रों से इन सबको प्रसन्न करे ।

ततः कुम्भं समुद्धार्य तोयचोचेक्षुसद्रसैः ।
सदघृतैश्च ततो दुग्धैर्दधिभिः स्नापयेज्जिनम् ॥४८३॥

अनन्तर कलश उठाकर जल, नारियल, ईख के उत्तम रस, शुद्ध घी तथा दूध और दही से जिनाभिषेक करे ।

तोयैः प्रक्षाल्य सच्चूर्णैः कुर्यादुद्वर्त्तनक्रियाम् ।
पुनर्नीराजनं कृत्वा स्नानं कषायवारिभिः ॥४८४॥

जलों से प्रक्षालित कर अच्छे चूर्ण से उद्वर्तन क्रिया को करे । पुनः आरती उतारकर गेरुए जल से स्नान कराए ।

चतुष्कोणस्थितैः कुम्भैस्ततो गन्धाम्बुपूरितैः ।
अभिषेकं प्रकुर्वीरन् जिनेशस्य सुखार्थिनः ॥४८५॥

अनन्तर सुखार्थी चारों कोनों पर स्थित सुगन्धित जल से भरे हुए कुम्भों से जिनेश का अभिषेक करें।

स्वोत्तमाङ्गं प्रसिच्याथ जिनाभिषेकवारिणा।
जलगन्धादिभिः पश्चादर्चयेद्विबमर्हतः ।।४८६।।

अनन्तर जिनाभिषेक के जल से अपने सिर को सींचकर जल-गन्धादि से अर्हन्त भगवान् के बिम्ब की अर्चना करे।

स्तुत्वा जिनं विसर्ज्यापि दिगीशादिमरुद्गणान्।
अर्चिते मूलपीठेऽथ स्थापयेज्जिननायकम् ।।४८७।।

जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति कर दिगीशादि मरुद् गोंण का विसर्जनकर अनन्तर मूल पीठ पर जिननायक की स्थापना करें।

तोयैःकर्मरजःशान्त्यै गन्धैः सौगध्यसिद्धये।
अक्षतैरक्षयावाप्त्यै पुष्पैः पुष्पशरच्छिदे ।।४८८।।

कर्म रूपी धूलि की शान्ति के लिए जल से सौगन्ध की सिद्धि के लिए गन्धों से, अक्षयपद की प्राप्ति के लिए अक्षतों से, काम का विनाश करने के लिए पुष्पों से।

चरुभिः सुखसंवृद्धयै देहदीप्त्यै प्रदीपकैः।
सौभाग्यावाप्तये धूपैः फलैमोक्षफलाप्तये ।।४८९।।

सुख की संवृद्धि के लिए चरु से, देह की दीप्ति के लिए दीपकों से, सौभाग्य की प्राप्ति के लिए धूपों से, मोक्षफल की प्राप्ति के लिए फलों से।

घण्टाद्यै मंगलद्रव्यैर्मंगलावाप्ति हेतवे ।
पुष्पाञ्जलिप्रदानेन पुष्पदन्ताभिदीप्तये ॥४६०॥

मङ्गल की प्राप्ति के लिए घष्टादि मंगल द्रव्यों से, पुष्पदन्ताभिदीप्ति के लिए पुष्पाञ्जलि प्रदान कर।

तिसृभिः शान्तिधाराभिः शान्त्ये सर्वकर्मणाम् ।
आराधयेज्जिनाधीशं मुक्तिश्रीवनितापतिम् ॥४६१॥

समस्त कर्मों की शान्ति के लिए तीन शान्ति धाराओं से मुक्तिलक्ष्मी रूपी स्त्री के पति जिनाधीश की आराधना करे ।

इत्येकादशधा पूजां ये कुर्वन्तिजिनेशिनाम् ।
अष्टौ कर्माणि सन्दह्य प्रयान्ति परमं पदम् ॥४६२॥

इस प्रकार जो जिनेन्द्र की ग्यारह प्रकार से पूजा करते हैं। वे आठ कर्मों का भली-भाँति दहनकर परमपद की ओर प्रयाण करते हैं।

अष्टोत्तरशतैः पुष्पैः जापं कुर्याज्जिनाग्रतः ।
पूज्यैः पंचनमस्कारैर्यथावकाशमञ्जसा ॥४६३॥

जिनेन्द्र भगवान् के आगे यथावकाश उचित रीति से पूज्य पंचनमस्कार के १०८ बार पुष्पों से जाप करें।

अथवा सिद्धचक्राख्यं यंत्रमुद्धार्य तत्वतः ।
सत्पचपरमेष्ठयाख्यं गणभृद्वलयक्रमम् ॥४६४॥

यंत्रं चिन्तामणिर्नाम सम्यग्शास्त्रोपदेशतः ।
संपूज्यात्र जपं कुर्यात् तत्तन्मंत्रैर्यथाक्रमम् ॥४६५॥

अथवा तत्त्वतः सिद्धचक्र नामक यन्त्र को ऊपर उठाकर सत्पंच परमेष्ठी नामक गणधरवलय के क्रम से सम्यक् शास्त्र के उपदेश से चिन्तामणि नामक यन्त्र की पूजा कर तत्तत् मंत्रों से यथाक्रम जप करें।

तद्यंत्रगन्धतो भाले विरचय्य विशेषकम्।
सिद्धशेषां प्रसंगृह्य न्यसेन्मूर्ध्नि समाहितः ॥४६६॥

उस यंत्र के गन्ध से मस्तक पर तिलक लगाकर सिद्धशेष का संग्रह कर समाहित चित्त से सिर पर रखे।

चैत्यभक्त्यादिभिः स्तूयाज्जिनेन्द्रं भक्तिनिर्भरः।
कृतकृत्यं स्वमात्मानं मन्यमानोऽद्य जन्मनि ॥४६७॥

भक्ति से भरे होकर अपने आपको इस जन्म में कृतकृत्य मान चैत्य भक्त्यादि से जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करे।

संक्षेपस्नानशास्त्रोक्तविधिना चा[1]भिषिच्य त[2]म्।
कुर्यादष्टविधां पूजां तोयगन्धाक्षतादिभिः[3] ॥४६८॥

संक्षेप में कही शास्त्रोक्त विधि से स्नान व उनका अभिषेक कर जल, गन्ध, अक्षतादि से आठ प्रकार की पूजा करे।

अन्तर्मुहूर्तमात्रं तु ध्यायेत् स्वस्थेन चेतसा।
स्वदेहस्थं निजात्मानं चिदानन्दैकलक्षणम्[4] ॥४६९॥

फिर स्वस्थचित्त से अन्तर्मुहूर्तक अपने शरीर में स्थित चिदानन्दैक लक्षण निजात्मा का ध्यान करे।

---

१ वा ख.। २ च ख। ३ लोकोऽयं, ४९९ श्लोकादुत्तरं। ४ श्लकोयं ४९८ श्लोकात्पूर्व ख-पुस्तके।

विधायैवं जिनेशस्य यथावकाशतोऽर्चनम् ।
समुत्थाय पुनः स्तुत्वा जिनचैत्यालयं व्रजेत् ।।५००।।

इस प्रकार यथावकाश जिनेन्द्र भगवान् की अर्चनाकर उठकर पुनः स्तुतिकर जिनचैत्यालय में जाए ।

कृत्वा पूजां नमस्कृत्य देवदेवं जिनेश्वरम् ।
श्रुतं संपूज्य सद्भक्त्या[1] तोयगन्धाक्षतादिभिः ।।५०१।।

देवदेव जिनेश्वर की पूजा कर, नमस्कार कर, जल, गन्ध अक्षतादि से अच्छी भक्ति पूर्वक श्रुत की पूजा करे ।

संपूज्य[2] चरणौ साधोर्नमस्कृत्य यथाविधिम् ।
आर्याणामार्यिकाणां च कृत्वा विनयमंजसा ।।५०२।।

साधु के दोनों चरणों की अच्छी तरह पूजा करके, यथा-विधि नमस्कार कर, आर्यपुरुषों/ऐलक, क्षुल्लक व आर्यिकाओं की उचित रीति से विनय कर ।

इच्छाकारवचः कृत्वा मिथः साधर्मिकैः समम् ।
उपविश्य गुरोरन्ते सुद्धर्मं शृणुयाद्बुधः ।।५०३।।

परस्पर में साधर्मियों के साथ इच्छाकार वचन करके गुरु के समीप में बैठकर बुद्धिमान सद्धर्म का श्रवण करे ।

देय दानं यथाशक्त्या जैनदर्शनवर्तिनाम् ।
कृपादानं च कर्त्तव्यं दयागुणविवृद्धये ।।५०४।।

अपनी शक्ति के अनुसार जैनदर्शन को मानने वालों को दान दे तथा दया गुण की वृद्धि के लिए कृपादान करें ।

---

१ सद्भव्य; ख. । २ श्लोकोऽयं. ख. पुस्तके नास्ति ।

एवं सामायिकं सम्यग्यः करोति गृहाश्रमी ।
दिनैः कतिपयैरेव स स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः ॥५०५॥

जो गृहाश्रमी इस प्रकार भली-भाँति सामायिक करता है, वह कुछ ही दिनों में मुक्ति रूपी लक्ष्मी का स्वामी हो जाता है ।

मासं प्रति चतुर्ष्वेव पर्वस्वाहारवर्जनम् ।
सकृद्भोजनसेवा वा कांजिकाहारसेवनम् ॥५०६॥

मास के चार दिन पर्वों पर आहार का त्याग कर दे, एक बार भोजन करे अथवा काँजी के आहार का सेवन करें ।

एवं शक्त्यनुसारेण क्रियते समभावतः ।
स प्रोषध्यो विधिः प्रोक्तो मुनिभिर्धर्मवत्सलैः ॥५०७॥

इस प्रकार समभावपूर्वक शक्ति के अनुसार की जाने वाली उस प्रोषध की विधि के विषय में धर्मवत्सल मुनियों ने कहा है ।

भुक्त्वा संत्यज्यते वस्तु स भोगः परिकीर्त्यते ।
उपभोगोऽसकृद्वारं भुज्यते च तयोर्मितिः[1] ॥५०८॥

जो वस्तु भोगकर त्याग दी जाती है, वह भोग कहा जाता है । किसी वस्तु का अनेक बार भोग उपभोग कहा जाता हैं । इन दोनों का परिमाण भोगोपभोग परिमाण हैं ।

संविभागोऽतिथीनां यः किंचिद्विशिष्यते हि स ।
न विद्यते तिथिर्यस्य सोऽतिथिः पात्रतां गतः ॥५०९॥

---

१ परिमाणं ।

अतिथियों का जो संविभाग किया जाता हैं, वह पात्र की अपेक्षा किंचित् विशिष्ट हैं। जिसकी कोई तिथि नियत न हो, वह अतिथि हैं।

अधिकाराः स्युश्चत्वारः संविभागे यतीशिनाम्।
कथ्यमाना भवन्त्येते दाता पात्रं विधिः फलमः ।।५१०।।

यतीश्वरों के संविभाग में ये चार अधिकार कहे गए हैं— दाता, पात्र, विधि और फल।

दाता शान्तो विशुद्धात्मा मनोवाक्कायकर्मसु।
दक्षस्त्यागी विनीतश्च प्रभुः षड्गुणभूषितः ।।५११।।

दाता, शान्त, मन, वचन और कर्मों में विशुद्ध, दक्ष, त्यागी, विनीत और प्रभु। इन छह गुणों से भूषित होना चाहिए।

ज्ञा[1]नं भक्तिः क्षमा तुष्टिः सत्वं च लोभवर्जनम्।
गुणा दातुः प्रजायन्ते षडेते पुण्यसाधने ।।५१२।।

ज्ञान, भक्ति, क्षमा, तुष्टि, सत्व, निर्लोभता। ये छह गुण दाता के पुण्य साधन में निमित्त होते हैं।

पात्रं त्रिविधं प्रोक्तं सत्पात्रं च कुपात्रकम्।
अपात्रं चेति तन्मध्ये तावत्पात्रं प्रकथ्यते ।।५१३।।

पात्र तीन प्रकार का कहा गया है—सत्पात्र, कुपात्र और अपात्र। इनके मध्य पात्र के विषय में कहा जाता है।

---

१ विज्ञः ख.।

उत्कृष्टमध्यमक्लिष्टभेदात् पात्रं त्रिधा स्मृतम् ।
तत्रोत्तमं भवेत्पात्रं स[1]र्वसंगोज्झितो यतिः ॥५१४॥

उत्कृष्ट, मध्यम और क्लिष्ट के भेद से पात्र तीन प्रकार का माना गया है। समस्त आसक्तियों का त्यागी यति उत्तम पात्र होता हैं।

मध्यमं पात्रमुद्दिष्टं मुनिभिर्देशसंयमी ।
जघन्यं प्रभवेत्पात्रं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥५१५॥

मुनियों ने देशसंयमी को मध्यम पात्र कहा है। असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है।

रत्नत्रयोज्झितो देही करोति कुत्सितं तपः ।
ज्ञेयं तत्कुत्सितः पात्रं मिथ्याभावसमाश्रयात् ॥५१६॥

रत्नत्रय विहीन जीव जो कुत्सित तप करता हैं, उसे मिथ्याभाव का आश्रय लेने के कारण कुत्सित पात्र (कुपात्र) जानना चाहिए।

न व्रतं दर्शनं शुद्धं न चास्ति नियतः मनः ।
यस्य चास्ति क्रिया दुष्टा तदपात्रं बुधैः स्मृतम् ॥५१७॥

जिसका व्रत तथा दर्शन शुद्ध नहीं हैं और मन नियत नहीं हैं एवं क्रिया दोषयुक्त हैं, विद्वानों ने उसे अपात्र माना है।

मुक्त्वात्र कुत्सितं पात्रमपात्रं च विशेषतः ।
पात्रदानविधिस्तत्र[2] प्रकथ्यते यथाक्रमम् ॥५१८॥

---

१ सम्यग्दृष्टि महामुनिः ख.। २ सूत्रे क.।

बुरे पात्र और विशेष रूप से अपात्त को छोड़कर पात्रदान की विधि यथाक्रम कही जाती हैं।

स्थापनमासनं योग्यं चरणक्षालनार्चने।
नतिस्त्रियोगशुद्धिश्च नवम्याहारशुद्धिता ।।५१६।।

१. योग्य स्थान पर ठहरना। २. आसन देना। ३. चरण प्रक्षालन करना। ४. अर्चना करना। ५. नमस्कार करना, (६ से ८) मन, वचन, काय की शुद्धि और ९. आहार शुद्धि।

नवविधं विधिः प्रोक्तः पात्रदाने मुनीश्वरैः।
तथा षोडशभिर्दोषैरुद्गमाद्यै र्विवर्जितः ।।५२०।।

मुनिश्वरों के पात्रदान में यह नव प्रकार की विधि कही गई है तथा यह सोलह प्रकार के उद्गम आदि दोषों से रहित होती है।

उद्दिष्टं विक्रयानीतमुद्धारस्वीकृतं तथा।
परिवर्त्यं समानीतं देशान्तरात्समागतम् ।।५२१।।

अप्रासुकेन सम्मिश्रं भुक्ति भाजनमिश्रता।
अधिकापाक संवृद्धिर्मुनिवृन्दे समागतेः ।।५२२।।

समीपीकरणं पंक्तौ संयतासंयतात्मनाम्।
पाकभाजनतोऽन्यत्र निक्षिप्यानयनं तथा ।।५२३।।

निर्वापितं समुत्क्षिप्य दुग्धमण्डादिकं च यत्।
नीचजात्यार्पितार्थं च प्रतिहस्तात्समर्पितम् ।।५२४।।

यक्षादिबलिशेषं च आनीय चोर्ध्वसद्मनि।
ग्रन्थिमुद्भिद्य यद्दत्तं कालातिक्रमतोऽर्पितम् ।।५२५।।

राजादीनां भयाद्दत्तमित्येषा दोषसंहृतिः ।
वर्जनीया प्रयत्नेन पुण्यसाधनसिद्धये ।।५२६।।

उद्दिष्ट, विक्रय के लिए गयी हुई वस्तु को लाना, उद्धार, स्वीकृत, परिवर्त्य, समानीत, दूसरे देश से आया हुआ, अप्रासुक से मिश्रित, भुक्तिभाजनमिश्रता, मुनिजनों के आने पर अधिक पकाकर बढ़ा लेना, पंक्ति में संयतासंयतों को पास में करना, पाक पात्र से अन्यत्र रखकर लाना, गिरे हुए दूध, माँड़ आदि को उठाकर देना, नीच जाति द्वारा दिया हुआ हुआ पदार्थ, उल्टे हाथ से देना, यक्षादि की बलि विशेष, ऊंचे महल से लाकर देना, गाँठ खोलकर देना, काल का अतिक्रमण कर देना, राजादि के भय से देना । इन सब दोषों के समूह को पुण्य के साधन की सिद्धि के लिए प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए ।

आहारं भक्तितो दत्तं दात्रा योग्यं यथाविधि ।
स्वीकर्त्तव्यं विशोध्यैतद्वीतरागयतीशिना ।।५२७।।

दाता के द्वारा भक्तिपूर्वक यथायोग्य विधि से दिए गए आहार को वीतराग मुनिराज को शोधकर स्वीकार करना चाहिए ।

योग्यकालागतं पात्रं मध्यमं वा जघन्यकम् ।
यथावत्प्रतिपत्या च दानं तस्मै प्रदीयताम् ।।५२८।।

योग्य काल में आए हुए उत्तम, मध्यम अथवा जघन्य पात्र को यथावत् संकल्प पूर्वक दान देना चाहिए ।

यदि पात्रमलब्धं चेदेवं निन्दां करोत्यसौ ।
वासरोऽयं वृथा यातः पात्रदानं बिना मम ।।५२९।।

यदि पात्र नहीं मिलता है तो वह इस प्रकार निन्दा करता है कि पात्रदान के बिना मेरा यह दिन व्यर्थ गया ।

इत्येवं पात्रदानं यो विदधाति गृहाश्रमी ।
देवेन्द्राणां नरेन्द्राणां पदं संप्राप्य सिद्धयति ॥५३०॥

इस प्रकार जो गृहाश्रमी पात्रदान करता है, वह देवेन्द्र और नरेन्द्र पद प्राप्त कर सिद्धि को प्राप्त होता है ।

अणुव्रतानि पंचैव सप्तशीलगुणैः सह ।
प्रपालयति निःशल्यः भवेद्व्रतिको गृही ॥५३१॥

सात शीलगुणों के साथ जो निःशल्य होकर पंच अणुव्रत पालन करता है, वह गृही व्रती होता है ।

व्रत प्रतिमा ।

चतुस्त्रयावर्तसंयुक्तश्चतुर्नमस्क्रिया सह ।
द्विनिषद्यो यथाजातो मनोवाक्कायशुद्धिमान् ॥५३२॥

चैत्यभक्त्यादिभिः स्तूयाज्जिनं सन्ध्या[1] त्रयेऽपि च ।
कालातिक्रमणं-मुक्त्वा स स्यात्सामायिकव्रती ॥५३३॥

चार आवर्त और चार नमस्कार सहित बैठकर मन, वचन और काय की शुद्धिवाला जो तीनों सन्ध्याओं (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) में चैत्य भक्ति आदि पूर्वक काल का अतिक्रमण किए बिना जिन स्तुति करता है, वह सामायिक व्रती होता है ।

---

१ सन्ध्यात्रयेष्वपि. च. ।

सामायिक प्रतिमा ;

मासं प्रत्यष्टमीमुख्यचतुष्पर्वदिनेष्वपि ।
चतुरभ्यवहार्याणां विदधाति विसर्जनम् ॥५३४॥

पूर्वापरदिने चैकाभुक्तिस्तदुत्तमं विदुः ।
मध्यमं तद्विना क्लिष्टं यत्राम्बु सेव्यतेक्वचित् ॥५३५॥

इत्येकमुपवासं यो विदधाति स्वशक्तितः ।
श्रावकेषु भवेत्तुर्यः प्रोषधोऽनशनव्रती ॥५३६॥

मास की प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को जो चार प्रकार के भोजन का त्याग करता है, इसके साथ पहले और बाद के दिन जो एक बार भोजन करता है, वह उत्तम प्रोषधोपवासी है । मध्यम वह है जो पहले और बाद के दिन एक बार भोजन का परित्याग न करता हुआ उपवास के दिन क्वचित् जल सेवन करता है । इस प्रकार जो अपनी शक्तिपूर्वक एक उपवास करता है, वह चौथा प्रोषधोपवासव्रती होता है ।

प्रोषध प्रतिमा ।

फलमूलाम्बुपत्राद्यं नाश्नात्यप्रासुकं सदा ।
सचित्तविरतो गेही[1] दयामूर्तिर्भवत्यसौ ॥५३७॥

जो अप्रासुक फल, मूल, जलपत्र आदि सदा नहीं खाता है, वह दयामूर्ति गृहस्थ सचित्तविरत होता है ।

सचित्त प्रतिमा ।

---

१ योगी ।

मनोवा[1]क्कायसंशुद्धया दिवा नो भजतेऽङ्गनाम् ।
भण्यतेऽसौ दिवाब्रह्मचारीति ब्रह्मवेदिभिः ॥५३८॥

मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक जो दिन में स्त्रियों का सेवन नहीं करता है, ब्रह्मवेत्ताओं ने उसे दिवा ब्रह्मचारी कहा है ।

रात्रौ भुक्ति प्रतिमा ।

स्त्रीयोनिस्थानसंभूतजीतघातभयादसौ ।
स्त्रियं नो रमते त्रेधा ब्रह्मचारी भवत्यतः ॥५३९॥

स्त्री के योनिस्थान में उत्पन्न हुए जीवघात के भय से जो स्त्री के साथ मन, वचन, काय से रमण नहीं करता है, वह इस कारण ब्रह्मचारी होता है ।

ब्रह्मचर्यप्रतिमा ।

यः[2] सेवाकृषिवाणिज्यव्यापरत्यजनं भजेत् ।
प्राण्य[3]भिघातसंत्यागादारम्भविरतो भवेत् ॥५४०॥

जो प्राणियों के विघात का परित्याग करने के कारण सेवा, कृषि, वाणिज्य और व्यापार का परित्याग करता है, वह आरम्भविरत होता है ।

आरम्भरहितप्रतिमा ।

दशधा ग्रन्थमुत्सृज्य निर्ममत्वं भजन्[4] सदा ।
सन्तोषामृतसंतृप्तः स स्यात्परिग्रहोज्झितः ॥५४१॥

---

१ ततो वाक्का. ख. । २ यत्. ख. । ३ प्रणामिघात ख. । ४ भजेत् ख. ।

जो सदा निर्ममत्व का सेवन करता हुआ दश प्रकार के परिग्रह को छोड़कर सन्तोष रूपी अमृत से संतृप्त होता है, वह परिग्रहत्यागी होता है।

अपरिग्रहप्रतिमा।

ददात्यनुमतिं नैव सर्वेष्वैहिककर्मसु।
भवत्यनुमतत्यागी देशसंयमिनां वरः ॥५४२॥

जो इस लोक सम्बन्धी समस्त कार्यों में अनुमति नहीं देता है, वह देशसंयमियों में श्रेष्ठ अनुमति त्यागी होता है।

अनुमतत्यागप्रतिमा।

नोद्दिष्टां सेवते भिक्षामुद्दिष्टविरतो गृही।
द्वेधैको[1] ग्रन्थसंयुक्तस्त्वन्यः कौपीनधारकः ॥५४३॥

उद्दिष्टविरत गृहस्थ उद्दिष्ट (अपने उद्देश्य से बनाई गई) भिक्षा का सेवन नहीं करता है। वह दो प्रकार का होता है–१. ग्रन्थ संयुक्त और २. कौपीनधारक।

आद्यो विदधते (ति) क्षौरं प्रावृणोत्येकवाससम्।
पंचभिक्षासनं भुंक्ते पठते गुरुसन्निधौ ॥५४४॥

आदि का क्षौरसामग्री धारण करता हैं, एक वस्त्र से अपने को आच्छादित करता है। पाँच घरों से लाई हुई भोजन सामग्री को खाता है और गुरु के समीप में पढ़ता है।

अन्यः कौपीनसंयुक्तः कुरुते केशलुञ्चनम्।
शौचोपकरणं पिच्छं मुक्त्वान्यग्रन्थवर्जितः ॥५४५॥

---

१ द्वावेको।

दूसरा कौपीन संयुक्त व केशलुञ्चन करता है। शौच का उपकरण कमण्डलु और मयूरपिच्छ को छोड़कर अन्य परिग्रहों का त्यागी होता है।

मुनीनामनुमार्गेण चर्यायै सुप्रगच्छति[1]।
उपविश्य चेरद्भिक्षां करपात्रेऽङ्गसंवृतः ॥५४६॥

वह मुनियों के जाने के बाद उसी मार्ग से चर्या के लिए जाता है। वह अपने अङ्ग को ढककर बैठकर भिक्षाचरण करता है।

नास्ति त्रिकालयोगोऽस्य प्रतिमा चार्कसम्मुखा।
रहस्यग्रन्थसिद्धान्त श्रवणे नाधिकारिता ॥५४७॥

वह तीनों काल में मुनि के समान योग धारण नहीं कर सकता है और सूर्य के सामने प्रतिमायोग भी धारण नहीं कर सकता है। सिद्धान्त के रहस्यपूर्ण ग्रन्थों के श्रवण का यह अधिकारी नहीं है।

वीरचर्या न तस्यास्ति वस्त्रखण्डपरिग्रहात्।
एवमेकादशो गेही सोत्कृष्टः प्रभवत्यसौ ॥५४८॥

वस्त्रखण्ड को स्वीकार करने के कारण उसकी वीरचर्या नहीं है। इस प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा वाला उत्कृष्ट श्रावक है।

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा।

---

१ सोऽवगच्छति।

स्थानेष्वेकादशस्वेवं स्वगुणाः पूर्वसद्गुणैः ।
संयुक्ता प्रभवन्त्येते श्रावकाणां यथाक्रमम् ॥५४६॥

अपने पूर्व सद्गुणों से युक्त ये यथाक्रम ग्यारह स्थानों में विभक्त हैं ।

आर्त्तरौद्रं भवेद्ध्यानं मन्दभावसमाश्रितम् ।
मुख्यंधर्म्यं न तस्यास्ति गृहव्यापरसंश्रयात् ॥५५०॥

इस श्रावक को आर्त रौद्र ध्यान मन्द हो जाते हैं, किन्तु ग्रहव्यापार का आश्रय लेने से मुख्य धर्म नहीं होता हैं ।

गौणं हि धर्मसद्ध्यानमुत्कृष्टं गृहमेधिनः ।
भद्रध्यानात्मकं धर्म्यं शेषाणां गृहचारिणाम् ॥५५१॥

उत्कृष्ट गृहस्थ के धर्मध्यान गौण होता है । शेष गृहस्थों के भद्रध्यानात्मक धर्म्यध्यान होता हैं ।

जिनेज्यापात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधिः ।
भद्रध्यानं स्मृतं तद्धि गृहधर्माश्रयादबुधैः ॥५५२॥

गृहस्थ, धर्म के आश्रय से जिनेन्द्र भगवान् की पूजन, पात्रदानादि कालोचित विधि विद्वानों ने भद्रध्यान मानी है ।

पूजादानं गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
आवश्यकानि कर्माणि षडेतानि गृहाश्रमे ॥५५३॥

गृहाश्रम में पूजा, दान, गुरुओं की उपासना, स्वाध्याय, संयम और तप । ये छह आवश्यक कर्म होते हैं ।

नित्या चतुर्मुखाख्या च कल्पद्रुमाभिधानका ।
भवत्याष्टाह्निकी पूजा दिव्यध्वजेति पञ्चधा ॥५५४॥

पूजा पाँच प्रकार की होती हैं—१. नित्यपूजा २. चतुर्मुख पूजा ३. कल्पद्रुम पूजा ४. आष्टाह्निकी पूजा और ५. दिव्य-ध्वज (इन्द्रध्वज)।

स्वगेहे चैत्यगेहे वा जिनेन्द्रस्य महामहः।
निर्माप्यते यथाम्नायं नित्यपूजा भवत्यसौ ॥५५५॥

अपने घर में या जिनमन्दिर में आम्नाय के अनुसार महामह निर्मिति नित्य पूजा होती है।

नित्या

नृपैर्मुकुटबद्धाद्यैः सन्मण्डपे चतुर्मुखे।
विधीयते महापूजा स स्याच्चतुर्मुखो महः ॥५५६॥

चतुर्मुख सन्मण्डप में मुकुटबद्ध आदि राजाओं द्वारा जो महापूजा की जाती है, वह चतुर्मुखपूजा होती है।

चतुर्मुखा।

कल्पद्रुमैरिवाशेषजगदाशा प्रपूर्यते।
चक्रिभिर्यत्रि पूजायां सा स्यात्कल्पद्रुमाभिधा ॥५५७॥

जिस पूजा में चक्रवर्तियों के द्वारा समस्त जगत् की आशा पूर्ण की जाती है, वह कल्पद्रुम नाम वाली होती है।

कल्पद्रुमा

नन्दीश्वरेषु देवेन्द्रैर्द्वीपे नन्दीश्वरे महः।
दिनाष्टकं विधीयेत सा पूजाष्टाह्निकी मता ॥५५८॥

नन्दीश्वर पर्व में इन्द्रादि देवों द्वारा नन्दीश्वर द्वीप पर आठ दिन जो पूजा की जाती है, वह आष्टाह्निकी मानी गई है।

आष्टाह्निकी

अकृत्रिमेषु चैत्येषु कल्याणेषु च पंचसु।
सु[1]रैर्विनिर्मिता पूजा भवेत्सेन्द्रध्वजात्मिका ॥५५९॥

अकृत्रिम चैत्यालयों में तथा पंचकल्याणकों में देवों द्वारा की गई पूजा इन्द्रध्वजात्मिका है।

इन्द्रध्वजा

महोत्सवमिति प्रीत्या प्रपंचयति पंचधा।
स स्यान्मुक्तिवधूनेत्र प्रेमपात्रं पुमानिह ॥५६०॥

इस प्रकार पाँच प्रकार से प्रीतिपूर्वक जो महोत्सवों का विस्तार करता है, वह पुरुष मुक्ति रूपी स्त्री का प्रेमपात्र होता है।

पूजा

दानमाहारभैषज्यशास्त्राभयविकल्पतः।
चतुर्धा तत्पृथक् त्रेधा त्रिधा पात्रसमाश्रयात् ॥५६१॥

आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान के भेद से चार प्रकार दान होता है। वह उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रों के आश्रय से तीन प्रकार का होता है।

एषणाशुद्धितो दानं त्रिधा पात्रे प्रदीयते।
भवत्याहारदानं तत्सर्वदानेषु चोत्तमम् ॥५६२॥

---

१ सुरेन्द्रै निर्मिता ख.।

एषणा शुद्धिपूर्वक मन, वचन और काय से जो दान पात्र को प्रदान किया जाता है, वह आहारदान है। आहारदान सब दानों में उत्तम हैं।

आहारदानमेकं हि दीयते येन देहिना।
सर्वाणि तेन दानानि भवन्ति विहितानि वै ॥५६३॥

जो शरीरधारी एक आहारदान देता हैं, उसने सभी दान दिए।

नास्ति क्षुधासमो व्याधिर्भेषजं वास्य[1] शान्तये।
अन्नमेवेति मन्तव्यं तस्मात्तदेव भेषजम ॥५६४॥

क्षुधा के ससान कोई व्याधि नहीं है अथवा इसकी शान्ति के लिए अन्न को ही औषधि मानना चाहिए। अतः अन्न ही औषधि हैं।

विनाहारैर्बलं नास्ति जायते नो बलं विना।
सच्छास्त्राध्ययनं तस्मात्तद्दानं स्यात्तदात्कम् ॥५६५॥

आहार के बिना बल नहीं होता है। बल के बिना अच्छे शास्त्रों का अध्ययन नहीं होता है। अतः आहार का दान शास्त्रदानस्वरूप है।

अभयं प्राणसंरक्षा बुभुक्षा प्राणहारिणी।
क्षुन्निवारणमन्नं स्यादन्नमेवाभयं ततः ॥५६६॥

प्राणों की रक्षा अभय है, भूख प्राणों का हरण करने वाली है। अन्न क्षुधा का निवारण करता है, अतः अन्नदान ही अभयदान है।

---

१ तस्य. ख.।

अन्न[1]स्याहारदानस्य तृप्तिभा[2]जां शरीरिणाम् ।
रत्नभूस्व[3]र्णदानानि कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।५६७।।

अन्न रूप आहारदान से शरीरधारियों को जो तृप्ति होती है, उसके सामने रत्न, आभूषण और स्वर्णदान सोलहवीं कला के भी योग्य नहीं हैं ।

सद्दृष्टिः पात्रदानेन लभते नाकिनां पदम् ।
ततोनरेन्द्रतां प्राप्य लभते पदमक्षयम् ।।५६८।।

सम्यग्दृष्टि पुरुष पात्रदान के फलस्वरूप देवपद प्राप्त करता है । अनन्तर राजा होकर अक्षय पद प्राप्त करता है ।

संसाराब्धौ महाभीमे दुःखकल्लोलसंकुले ।
तारकं पात्रमुत्कृष्टमनायासेन देहिनाम् ।।५६९।।

दुःख की तरंगों से व्याप्त महाभयङ्कर संसार रूपी समुद्र में प्राणियों को उत्कृष्ट पात्र अनायास ही तारने वाले होते हैं ।

सत्पात्रं तारयत्युच्चैः स्वदातारं भवार्णवे ।
यान पात्रं समीचीनं तारयत्यम्बुधौ यथा ।।५७०।।

सत्पात्र अपने दाता को संसार रूपी समुद्र से तार देता है, जिस प्रकार समीचीन जहाज समुद्र को पार करा देता है ।

भद्रमिथ्यादृशो जीवा उत्कृष्टपात्रदानतः ।
उत्पद्य भुंजते भोगानुत्कृष्ट भोगभूतले ।।५७१।।

उत्कृष्ट पात्रदान से भद्रमिथ्यादृष्टि जीव उत्तम भोग-भूमि में उत्पन्न होकर भोगों को भोगते हैं ।

---

१ अन्नस्यान्नाहारदानस्य. ख. । २ भाज ख. । ३ दानादि कलां नार्हति ।

ते चार्पितप्रदानेन मध्यमाधमपात्रयोः ।
मध्यमाधमभोगेभ्यो लभन्ते जीवितं महत्[1] ।।५७२।।

यदि वे मध्यम और अधम पात्रों का दान देते हैं तो मध्यम और अधम भोगभूमि में दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं ।

मधुवाद्याङ्गदीपाङ्गा वस्भाजनमाल्यदाः ।
ज्योतिर्भूषागृहाङ्गाश्च दशधा कल्पपादपाः ।।५७३।।

मद्याङ्ग, वाद्याङ्ग, दीपाङ्ग, वस्त्राङ्ग, भाजनाङ्ग, माल्याङ्ग, ज्योतिरङ्ग, भूषाङ्ग, गृहाङ्ग तथा भोजनाङ्ग । ये दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं ।

पुण्योपचितमाहारं मनोज्ञं कल्पितं यथा ।
लभन्ते कल्पवृक्षेभ्यस्तत्रत्या देहधारिणः ।।५७४।।

भोगभूमि में रहने वाले जीव पुण्य से वृद्धि को प्राप्त मनोज्ञ आहार को कल्पवृक्षों से प्राप्त करते हैं ।

दानं हि वामदृग्वीक्ष्य कुपात्राय प्रयच्छति ।
उत्पद्यते कुदेवेषु तिर्यक्षु कुनरेष्वपि ।।५७५।।

मिथ्यादृष्टि कुपात्रों को दान देने से कुदेव, तिर्यञ्च और कुमानुष योनि में उत्पन्न होता है ।

मानुषोत्तरबाह्ये ह्यसंख्यद्वीपवार्धिषु ।
तिर्यक्त्वं लभते नूनं देही कुपात्रदानतः ।।५७६।।

कुपात्रदान से निश्चित रूप से जीव मानुषोत्तर पर्वत के बाहर असंख्यात द्वीप समुद्रों में तिर्यंगति को प्राप्त होता है ।

---

१ सदा–५७२–५७३ श्लोकौ पूर्वापरीभूतौ ख-पुस्तके ।

निन्द्या[1]सु भोगमूभीषु पल्यप्रमितजीविनः ।
नग्नाश्च विकृताकारा भवन्ति वामदृष्टयः ।।५७७।।

मिथ्यादृष्टि निन्द्य भोगभूमियों में पल्यमात्र की आयु वाले नग्न तथा विकृत आकार वाले होते हैं ।

लवणाब्धेस्तटं त्यक्त्वा शतध्नीं पंचयोजिनीम् ।
दिग्विदिक्षु चतसृषु पृथक्कुभोगभूमयः ।।५७८।।

लवण समुद्र के तट को छोड़कर पाँच सौ योजन का एक विशाल पत्थर है, जिसमें लोहे की शलाकायें जड़ी हुई हैं । चार दिशाओं और विदिशाओं में पृथक् कुभोगभूमियाँ हैं ।

सैकोरुकाः सशृङ्गाश्च लांगुलिनश्च मूकिनः ।
चतुर्दिक्षु वसन्त्येते पूर्वादिक्रमतो यथा ।।५७९।।

पूर्व दिशा में एक टाँग वाले मनुष्य हैं, पश्चिम दिशा में पूंछ वाले मनुष्य हैं, उत्तर दिशा में गूंगे मनुष्य हैं और दक्षिण दिशा में सींग वाले मनुष्य हैं ।

विदिक्षु शशकर्णाख्याः सन्ति सष्कुलिकर्णिनः ।
कर्णप्रावरणाश्चैव लम्बकर्णाः कुमानुषाः ।।५८०।।

चारों विदिशाओं में क्रम से खरगोश के समान कान वाले, शष्कुली अर्थात् मछली अथवा पूड़ी के समान कान वाले, प्रावरण के समान कान वाले और लम्बे कान वाले मनुष्य हैं ।

शतानि पंच सार्धानि सन्त्यज्य वारिधेस्तटम् ।
अन्तरस्थदिशास्वष्टौ कुत्सिता भोगभूमयः ।।५८१।।

---

१. निन्द्याः कुभोगभूमिषु ख. ।

पाँच सौ पचास योजन समुद्र के तट को छोड़कर भीतर स्थित आठ दिशाओं में कुभोगभूमियाँ हैं।

सिंहाश्च महिषोलूक व्याघ्रशूकर गोमुखाः।
कपिवक्त्रा भवन्त्यष्टौ दिशानामन्तरे स्थिताः ॥५८२॥

आठों अन्तराल द्वीपों में सिंह, भैंसा, उल्लू, व्याघ्र, शूकर, घड़ियाल (नक्र) और बन्दर के समान मुख वाले मनुष्य हैं।

वेधायाः षटछतीं त्यक्त्वा द्वौ द्वावुभयोर्दिशोः।
हिमाद्रि विजयार्धाद्रितारांद्रिशिखर्यद्रिषु ॥५८३॥

छ सौ धनुष छोड़कर दो-दो दिशा के दोनों उभय भागों में हिम पर्वत, विजयार्द्ध पर्वत, तारा पर्वत और शिखरी पर्वतों में तथा

हिमवद्विजयार्धस्य पूर्वापरविभागयोः।
मत्स्यकालमुखा मेघविद्युन्मुखाश्च मानवाः ॥५८४॥

हिमवान् और विजयार्द्ध पर्वत के पूर्वापर विभाग में मत्स्य, काल, मेघ और विद्युत् के समान मुख वाले मनुष्य हैं।

विजयार्धशिखर्यद्रिपार्श्वयोरुभयोरपि।
हस्त्यादर्शमुखामेघमण्डलाननसन्निभाः ॥५८५॥

चतुर्विंशतिसंख्याका भवन्ति मिलिता इमाः।
तावन्त्यो धातकीखण्डनिकटे लवणार्णवे ॥५८६॥

ये सब मिलकर २४ होते हैं। इतने ही धातकी खण्ड के निकट लवण सागर में हैं।

एवं स्युर्द्यूनपंचाशल्लवणाब्धितटद्वयोः।
कालोदजलधौ तद्वद्द्वीपाः षण्णवतिः स्मृताः ॥५८७॥

इस प्रकार लवण सागर के दोनों तटों में अडतालीस और कालोदसमुद्र में इसी प्रकार ९६ द्वीप माने गये हैं ।

एकोरूका गुहावासाः स्वादुमृन्मयभोजनाः ।
शेषास्तरुतलावासाः पत्रपुष्पफलाशिनः ॥५८८॥

एक पैर वाले मानव पर्वत की गुफाओं में रहते हैं और सुस्वादु मिट्टी का आहार करते हैं । शेष अन्तद्वीपज मानव वृक्षों के नीचे रहते हैं और पत्र, पुष्प तथा फलों का आहार करते हैं ।

न जातु विद्यते येषां कृतदोषनिकृंतनम् ।
उत्पादोऽत्र भवेत्तेषां कषायवशगात्मनाम्[1] ॥५८९॥

जिनके किए हुए दोष करें नहीं, उन कषाय के वशवर्ती जीवों का यहाँ उत्पाद होता है ।

सूतकाशुचिदुर्भावव्याकुला[2]दिम (त्व) संयुताः ।
पात्रे दानं प्रकुर्वन्ति मूढा वा गर्विताशयाः ॥५९०॥

सूतक, अशुचि, दुर्भाव, व्याकुलतादि से युक्त मूढ़ अथवा गर्वयुक्त अभिप्राय वाले (कु) पात्र में दान करते हैं।

पंचाग्निना तपोनिष्ठा मौनहीनं च भोजनम् ।
प्रीतिश्चान्यविवादेषु व्यसनेष्वतितीव्रता ॥५९१॥

दानं च कुत्सिते पात्रे येषां प्रवर्तते सदा ।
तेषां प्रजायते जन्म क्षेत्रेऽष्वेतेषु निश्चितम् ॥५९२॥

---

१ क–पुस्तके अस्मात् ५८९ श्लोकात्पूर्वं द्विकलमिति पाठः । ख–पुस्तके तु ५९० श्लोकात्पूर्वं त्रिकलमिति । २ वक्रादिमसयुताः ख–पाठः ।

जो पंचाग्नि तप में निष्ठा रखते हैं, मौनहीन भोजन करते हैं, दूसरों के विवादों में जिनकी प्रीति होती है, जिनके अतितीव्र व्यसन होते हैं, जिनका दान सदैव बुरे पात्रों में प्रवृत्त होता है, उनका निश्चित रूप से इन क्षेत्रों में जन्म होता हैं ।

उत्पद्यन्ते ततो मृत्वा भावनादिसुरत्रये ।
मन्दकषायसद्भावात् स्वभावार्जवभावतः ॥५९३॥

अनन्तर मन्द कषाय के सद्भाव से, स्वभाव से सरल भाव से ये मरकर भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होते हैं ।

मिथ्यात्वभावनायोगात्ततश्च्युत्वा भवार्णवे ।
वराकाः सम्पतन्त्येव जन्मनक्रकुलाकले ॥५९४॥

वहाँ से च्युत होकर मिथ्यात्व भावना के योग से इन बेचारों का जन्म नक्रों के समूह से व्याप्त संसार रूपी समुद्र में होता है ।

अपात्रे विहितं दानं यत्नेनापि चतुर्विधम् ।
व्यर्थीभवति तत्सर्वं भस्मन्याज्याहुतिर्यथा ॥५९५॥

जिस प्रकार राख में घी की आहुति सब व्यर्थ जाती है, इसी प्रकार यत्नपूर्वक भी अपात्र में दिया गया चार प्रकार का दान व्यर्थ जाता है ।

अब्धौ निमज्जयत्याशु स्वमन्यान्नौर्दृषन्मयी ।
संसाराब्धावपात्रं तु तादृशं विद्धि सन्मते ॥५९६॥

हे उत्तम बुद्धि वाले ! जिस प्रकार पत्थर की नौका अपने को और दूसरे को शीघ्र ही डुबा देती हैं, उसी प्रकार अपात्र संसार रूपी समुद्र में डुबा देते हैं, ऐसा जानो ।

पात्रे दानं प्रकर्तव्यं ज्ञात्वैवं शुद्धदृष्टिभिः ।
यस्मात्सम्पद्यते सौख्यं दुर्लभं त्रिदशेशिनाम् ॥५९७॥

इस प्रकार जानकर शुद्ध दृष्टि वालों को सुपात्रों को दान देना चाहिए । जिससे इन्द्रों को जो दुर्लभ है, ऐसे सुख की प्राप्ति होती हैं ।

दानम ।

क्रियते गन्धपुष्पाद्यैर्गुरुपादाब्जपूजनम् ।
पादसंवाहनाद्यं च गुरुपास्तिर्भवत्यसौ ॥५९८॥

गन्ध, पुष्प आदि से गुरु के चरण कमलों की पूजा करना, चरण दबाना आदि गुरुपास्ति है ।

गुरुपास्ति ।

चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थतः ।
अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्यायः कथ्यते हि सः ॥५९९॥

जिनोक्त चार अनुयोगों का यथार्थ रूप से अध्ययन स्वाध्याय कहलाता है ।

स्वाध्यायः ।

प्राणिनां रक्षणं त्रेधा तथाक्षप्रसराहृतिः ।
एकोद्देशमिति प्राहुः संयमं गृहमेधिनाम् ॥६००॥

मन, वचन, काय से प्राणियों की रक्षा करना तथा इन्द्रियों के विस्तार को रोककर गृहस्थों का एक एकदेश संयम कहलाता है।

संयमम् ।

उपवासः सकृद्भुक्तिः सौवीराहारसेवनम् ।
इत्येवमाद्यमुद्दिष्टं साधुभिर्गृहिणां तपः ॥६०१॥

उपवास करना, एक बार भोजन करना, काँजी के आहार का सेवन करना इत्यादि को साधुओं ने गृहस्थों का तप कहा है।

तपः ।

कर्माण्यावश्यकान्याहुः षडेवं गृहचारिणाम् ।
अधः कर्मादिस[1]म्पातदोषविच्छित्तिहेतवे ॥६०२॥

अधः कर्मादि से उत्पन्न दोषों को नष्ट करने के लिए इस प्रकार छह गृहस्थों के आवश्यक कर्म कहे गए हैं।

षट् कर्मभिः किमस्माकं पुण्यसाधनकारणैः ।
पुण्यात्प्रजायते बन्धो बंधात्संसारता यतः ॥६०३॥

पुण्यसाधन के कारण होने से षट् कर्मों से हमारा क्या लाभ है ? क्योंकि पुण्य से बन्ध होता है। बन्ध से संसारिता होती है।

निजात्मानं निरालम्ब[2]ध्यानयोगेन चिन्त्यते ।
येनेह बन्धविच्छेदं कृत्वा मुक्ति प्रगम्यते ॥६०४॥

---

१ आधाकर्मादिसंजात। २ निरालम्बं क.।

निरालम्ब ध्यान योग से निजात्मा का चिन्तन होता है, जिससे इस संसार में बन्ध का विच्छेद करके मुक्तिगमन करता है।

ये वदन्ति गृहस्थानामस्ति ध्यानं निराश्रयम् ।
जैनागमं न जानन्ति दुर्धियस्ते स्ववंचकाः ।।६०५।।

जो लोग कहते हैं कि गृहस्थों के निरालम्बन ध्यान होते हैं, दुर्बुद्धि अपने को ठगने वाले वे जिनागम को नहीं जानते हैं ।

निरालम्बं तु यद्ध्यानमप्रमत्त यतीशिनाम् ।
बहिर्व्यापारमुक्तानां निर्ग्रन्थजिर्नालिगिनाम् ।।६०६।।

बहिर्व्यापार से मुक्त, निर्ग्रन्थ जिनलिङ्गी अपमत्त मुनिराजों के निरालम्ब ध्यान होता है ।

गृहव्यापारयुक्तस्य मुख्यत्वेनेहे दुर्घटम ।
निर्विकल्प[1] चिदानन्द निजात्मचिन्तन परम् ।।६०७।।

जो गृहव्यापार से युक्त है, उसके मुख्यता से निर्विकल्प, चिदानन्द, निजात्मा का चिन्तन कठिन है ।

गृहव्यापारयुक्तेन शुद्धात्मा चिन्त्यते यदा ।
प्रसफुरन्ति तदा सर्वे व्यापारा नित्यभाविताः ।।६०८।।

जो गृहव्यापार से युक्त है, उसके द्वारा जब शुद्धात्मा का चिन्तन किया जाता है तो नित्य रूप से भावित समस्त व्यापार प्रस्फुरित होते हैं ।

---

१ ल्पं ख।

अथ चेन्निश्चलं ध्यानं विधातुं यः समीहते ।
ढिकुलीसन्निभं तद्धि जायते तस्यदेहिनः ॥६०९॥

जो व्यक्ति निश्चल ध्यान करना चाहता है, वह ध्यान उस प्राणी के (गृह व्यापार से युक्त प्राणी के) ढ़ेंकुली के सदृश होता है ।

पुण्यहेतुं परित्यज्य शुद्धध्याने प्रवर्तते ।
तत्र नास्त्यधिकारित्वं ततोऽसावुभयोज्झितः ॥६१०॥

पुण्य के हेतु का परित्याग करके यदि शुद्ध ध्यान में प्रवृत्त होता है तो उसमें उसका अधिकार नहीं होता । इस प्रकार उसने पुण्यकर्म और शुक्लध्यान दोनों का परित्याग कर दिया ।

त्यक्तपुण्यस्य जीवस्य पापास्रवो भवेद्ध्रुवम् ।
पापबन्धो भवेत्तस्मात् पापबन्धाच्च दुर्गतिः ॥६११॥

जिस जीव ने पुण्यकर्म का परित्याग कर दिया है, उसके निश्चित रूप से पापास्रव होता है । पापास्रव से पापबन्ध होता है और पापबन्ध से दुर्गति होती है ।

पुण्यहेतुस्ततो भव्यैः प्रकर्तव्यो मनीषिभिः ।
यस्मात्प्रगम्यते स्वर्गमायुर्बन्धोज्झितैर्जनैः ॥६१२॥

अतः भव्य मनीषियों को पुण्य जिनका हेतु है ऐसे कार्य अवश्य करना चाहिए । जिससे (मरण करके जीव अगले भव में) स्वर्ग जाते हैं ।

तत्रानुभूय सत्सौख[1]यं सर्वाक्षार्थप्रसाधकम् ।
ततश्च्युत्वा र्मभूमकौ नरेन्द्रत्वं प्रपद्यते ।।६१३।।

वहाँ पर समस्त इन्द्रियों के विषयों का प्रसाधक उत्तम सुख अनुभव कर वहाँ से च्युत होकर कर्मभूमि में राजत्व को प्राप्त करता है ।

लक्षाश्चतुरशीतिः स्युरष्टादश च कोटयः ।
लक्षं चतुः सहस्त्रोनं गजश्र्चन्तः पुराणि च ।।६१४।।

निधयोनत्र रत्नानि प्रभत्रन्ति चतुर्दश ।
षट्खण्डभरतेशत्वं चक्रिणां स्युर्विभूतयः ।।६१५।।

चौरासी लाख हाथी, अठारह करोड़ घोड़े, छयानबे हजार रानियां, नव निधियां, चौदह रत्न तथा छह खण्डों का स्वामित्व । ये भरतादि चक्रवर्तियों की विभूतियाँ होती हैं ।

जरत्तृणमिवाशेषां संत्यज्य राज्यसम्पदम्[2] ।
अत्युत्कृष्टतपोलक्ष्मी[3]मेवं प्राप्नोति शुद्धदृक् ।।६१६।।

शुद्ध सम्यग्दृष्टि पुराने तृण के समान समस्त राज्य सम्पदा का परित्याग कर इस प्रकार अत्युत्कृष्ट तपोलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं ।

भस्मसात्कुरुते तस्माद्धातिकर्मेन्धनोत्करम् ।
संप्राप्यार्हन्त्यसल्लक्ष्मीं मोक्षलक्ष्मीपतिर्भवेत् ।।६१७।।

उससे घातिकर्मों के ईन्धन के समूह को भस्म करते हैं और आर्हन्त्य लक्ष्मी को पाकर मोक्ष लक्ष्मी के पति होते हैं ।

---

१ तत् ख । २ दां. क. । ३ लक्ष्म्या एवं ख. ।

ईदृग्विधं पदं भव्यः सर्वं पुण्यादवाप्यते ।
तस्मात्पुण्यं प्रकर्तव्यं यत्नतो मोक्षकांक्षिणा ।।६१८।।

भव्य इस प्रकार के समस्त पद को पुण्य से प्राप्त करता है, अतः मोक्ष को चाहने वाले को यत्नपूर्वक पुण्य करना चाहिए ।

एवं संक्षेपतः प्रोक्तं यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ।
देशसंयमसम्बन्धिगुणस्थानं हि पंचमम् ।।६१९।।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों के कहे अनुसार संक्षेप रूप से देश-संयम सम्बन्धी पंचम गुणस्थान का कथन किया ।

इति पंचमं विरताविरतसंज्ञं गुणस्थानम् ।

अतो वक्ष्ये गुणस्थानं प्रमत्तसंयताह्वयम् ।
तत्रोपशमिकाद्याः स्युस्त्रयो भावा यथोदिताः ।।६२०।।

अनन्तर प्रमत्त संयत नामक गुणास्थान को कहूँगा । उसमें पहले कहे गए औपशमिकादि तीन भाव होते हैं ।

कषायाणां चतुर्थानां तीव्रपाके महाव्रती ।
भवेत्प्रमादयुक्तत्वात्प्रमत्तसंयताभिधः ।।६२१।।

चार कषायों के तीव्र पाक से महाव्रती जब प्रमाद से युक्त होता है तो प्रमत्त संयत नाम वाला होता है ।

मूलशीलगुणैर्युक्तो थदप्यखिलसंयमी ।
व्यक्ताव्यक्तप्रमादत्वाच्चित्रिताचरणो भवेत् ।।६२२।।

मूल गुण और शील गुणों से युक्त सर्वदेश संयमी व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद के कारण चित्रित आचरण वाला होता है ।

निद्रा स्नेहो हृषीकाणि कषाया विकथाः क्रमात् ।
एकैकं पंच चत्वारश्चतस्त्रश्च प्रमादकाः ॥६२३॥

निद्रा, स्नेह, पंच इन्द्रियाँ, चार कषायें, चार विकथायें । इस प्रकार पन्द्रह प्रमाद होते हैं ।

बाह्यै र्दशविधैर्ग्रन्थैश्चेतनात्मकैः ।
तथैवाभ्यन्तरोद्‌भुतैश्चतुर्दशविधैश्च्युताः ॥६२४॥

प्रमत्त संयत, चेतनाचेतनात्मक दश प्रकार के बहिरङ्ग और १४ प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रहों से रहित होते हैं ।

क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं सुवर्णं रजतं तथा ।
दास्यो दाशाश्च भांडं च कुप्यं बाह्यपरिग्रहाः ॥६२५॥

क्षेत्र, गृह, धन, धान्य, सुवर्ण, रजत, दासी, दास, भांड तथा कुप्य ये बाह्‌य परिग्रह हैं ।

ग्रन्था हास्यादयो दोषा वामं वेदाः कषायकाः ।
षडेकत्रिचतुर्भेदैरन्तरङ्गाश्चुर्दश ॥६२६॥

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह तथा मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद ये तीन वेद क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें इस प्रकार १४ अन्तरङ्ग परिग्रह होते हैं ।

त्यक्तग्रन्थेषु बाह्येषु पुनर्मुह्यन्तिदुर्धियः ।
समानास्ते भवन्त्युच्चैरुद्‌गीर्णाहारभोजिनाम् ॥६२७॥

जो दुबुद्धि बाह्‌य परिग्रहों का त्याग कर पुनः उनमें मोहित होते हैं । वे उगले हुए आहार का भोजन करने वालों के समान होते हैं ।

हास्यादि षट्सु दोषेषु प्रसक्ता जिनलिंगिनः ।
मूढास्ते पुष्पनाराचैर्विभिद्यन्ते यथेप्सितम् ॥६२८॥

हास्यादि छः दोषों में लगे हुए मूढ़ जिनलिङ्गी कामदेव के बाणों से यथेष्ट रूप में भेदे जाते हैं ।

धृत्वा जैनेश्वरं लिङ्ग वैपरीत्येन वर्तनम् ।
मिथ्यात्वं तद्भवेत्तेषां दुर्गतौ गमने सखा ॥६२९॥

जिनेश्वर लिंग को धारण कर विपरीत आचरण करना मिथ्यात्व होता है । जो कि मुनियों की दुर्गति गमन में मित्र होता है ।

घूर्ण्यन्ते विषयव्यालैर्भिद्यन्ते मारमार्गणैः ।
वेदरागवशीभूता दह्यन्ते दुःखवह्निना ॥६३०॥

स्त्रीवेदादि राग के वशीभूत हुए विषय रूपी सर्प से घुमाए जाते हैं । कामदेव के बाणों से भेदे जाते हैं तथा दुःख रूपी अग्नि से जलाए जाते हैं ।

न शक्नुवन्तिये जेतुं कषायराक्षसांगणम् ।
वराकाः कार्मणंसैन्यं न ते जेष्यन्ति जातुचित् ॥६३१॥

जो कषाय रूपी राक्षसों के समूह को जीतने के लिए समर्थ नहीं है, वे बेचारे कभी भी कर्मों की सेना को नहीं जीतेंगे ।

रसे रसायने स्तम्भे शाकिनीग्रहनिग्रहे ।
वश्योच्चाटनविद्वेषे भोगीन्द्रविषविष्णवे ॥६३२॥

रस, रसायन, स्तम्भन, शाकिनी तथा भूतों का निग्रह, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेष तथा सांप के विष को दूर करना।

इत्यादिषु[1] प्रवर्तन्ते निष्ट्रपाऐहिकाशयाः ।
यतित्वं जीवनोपायं भवेत्तेषां विनिश्चितम् ॥६३३॥

इत्यादि में लज्जाहीन इस लोक की आशा रखने वाले प्रवृत्त होते हैं। उनका यतिपना निश्चित रूप से जीवनोपाय होता है।

निःशल्या निरहंकारा निर्मोहा मदविच्युताः ।
पक्षपातारिसंत्यक्ता निष्कषाया जितेन्द्रियाः ॥६३४॥

जो शल्यरहित हैं, अहंकार रहित हैं, मोह मद से रहित हैं, पक्षपात रूपी शत्रु को जिन्होंने छोड़ दिया है, जो निष्कषाय तथा जिनेन्द्रिय हैं।

अन्तर्बाह्य तपोनिष्ठाश्चारित्रव्रतभाजिनः[2] ।
दशधर्मरताः शान्ता ध्यानाध्ययनतत्पराः ॥६३५॥

जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग तप में निष्ठा रखते हैं, चारित्र और व्रत के पात्र हैं, दश धर्मों में रत हैं, शान्त हैं तथा ध्यान और अध्ययन में तत्पर हैं।

भेदाभेदनयाक्रान्तरत्नत्रयविभूषिताः ।
इत्यादिगुणभूषाढ्या जगद्वन्द्या यतीश्वराः ॥६३६॥

जिन्होंने भेद और अभेद नय को पार कर लिया है तथा जो रत्नत्रय से विभूषित है इत्यादि गुण रूपी भूषा से व्याप्त जगद्बन्द्य यतीश्वर हैं।

---

१ द्येषु। २ भाजनाः ख.।

ध्यायन्ति गौणभावाद्यं धर्म्यमालम्बनान्वितम् ।
मुख्यं धर्म्यं निरालम्बमप्रमत्तमुनीश्वराः ॥६३७॥

जो गौणभाव से सालम्बन धर्म्य ध्यान करते हैं तथा मुख्य रूप से निरालम्बन धर्म्यध्यान करते हैं, वे अप्रमत्त मुनिश्वर हैं ।

धर्मध्यानं तु सालम्बं चतुर्भेदैर्निगद्यते ।
आज्ञापायविपाकाख्यसंस्थानविचयात्मभिः ॥६३८॥

सालम्बन धर्मध्यान चार प्रकार का कहा जाता है—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय ।

स्वसिद्धान्तोक्तमार्गेण तत्त्वानां चिन्तनं यथा ।
आज्ञया जिननाथस्य तदाज्ञाविचयंमतम् ॥६३९॥

जिननाथ की आज्ञा के अनुसार अपने सिद्धान्त में कहे हुए मार्ग से तत्त्वों का चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान माना गया है ।

अपायश्चिन्त्यते बाढं यः शुभाशुभकर्मणाम् ।
अपायविचयं प्रोक्तं तद्ध्यानं ध्यानवेदिभिः ॥६४०॥

शुभाशुभकर्मों को दूर करना जिसमें भली भाँति विचारा जाता है । उसे ध्यान को जानने वालों ने अपायविचय कहा है ।

संसारवर्तिजीवानां विपाकः कर्मणामयम् ।
दुर्लक्षश्चिन्त्यते यत्र विपाकविचयं हि तत् ॥६४१॥

संसार में रहने वाले जीवों का यह कर्म विपाक दुर्लक्ष है, इस बात को जहाँ विचारा जाता है, वह विपाकविचय है ।

विचित्रं लोकसंस्थानं पदार्थैर्निचितं महत् ।
चिन्त्यते यत्र तद्ध्यानं संस्थानविचयं स्मृतम् ॥६४२॥

विचित्र लोक का संस्थान (आकार) बड़े-बड़े पदार्थों से व्याप्त है, यह बात जहां विचारी जाती है, वह ध्यान संस्थानविचय माना गया है ।

अथवा जिनमुख्यानां पंचनां परमेष्ठीनाम् ।
पृथक् पृथक् तु यद्ध्यानं सालम्बंतदपि स्मृतम् ॥६४३॥

अथवा जिनेन्द्र भगवान जिनमें मुख्य हैं, ऐसे पंचपरमेष्ठियों का पृथक्-पृथक् जो ध्यान है, वह भी सालम्बन ध्यान माना गया है ।

सालम्बध्यानमित्येवं ज्ञात्वा ध्यायन्ति योगिनः ।
कर्मनिर्जरणं तेषां प्रभवत्यविलम्बितम् ॥६४४॥

इस प्रकार सालम्बन ध्यान को जानकर जो योगी ध्यान लगाते हैं वे शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होते हैं ।

अस्तित्वान्नोकषायाणामार्तध्यानं प्रजायते ।
निराकरोतितद्ध्यानं स्वाध्यायभावनाबलात् ॥६४५॥

नोकषायों के अस्तित्व से आर्तध्यान उत्पन्न होता है । वह सालम्बन ध्यान उस आर्तध्यान का स्वाध्याय की भावना के बल से निराकरण करता है ।

यावत्प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति ।
धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूचुर्जिनभास्कराः ॥६४६॥

जब तक प्रमाद से युक्त है, तब तक ध्यान करने वाले के निरालम्बन धर्मध्यान नहीं ठहरता है, ऐसा जिन सूर्यों ने कहा है ।

तस्मादर्यिष[1]णाद्यैस्तु पापदोषा[2]न्निकृन्तति ।
विशुद्धया[3]वश्यकैः षड्भिः मुमुक्षुः स्वात्मशुद्धये ।।६४७।।

अतः विशुद्ध एषणा आदि से मुमुक्षु अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए विशुद्ध छः आवश्यकों के द्वारा पाप के दोषों को काटता है ।

समता वन्दना स्त्रोत्रं प्रत्याख्यानं प्रतिक्रिया ।
व्युत्सर्गश्चेति कर्माणि भवन्त्यावश्यकानि षट् ।।६४८।।

समता, वदना, स्तोत्र, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और व्युत्सर्ग ये छह आवश्यक कर्म हैं ।

आवश्यकान् परित्यज्य निश्चलं ध्यानमाश्रयेत् ।
नासौ वेत्यागमंजैनं मिथ्यादृष्टिर्भवत्यतः ।।६४९।।

आवश्यकों का परित्याग कर निश्चल ध्यान का आश्रय लेना चाहिये । (ऐसा कहने वाला) चूंकि जैनागम को नहीं जानता है, अतः मिथ्यादृष्टि होता है ।

तस्मादावश्यकैः कुर्यात्प्राप्तदोषनिकृन्तनम् ।
यावन्नाप्नोति सद्ध्यानं निरालम्बं सुनिश्चलम् ।।६५०।।

अतः जब तक निरालम्बन, सुनिश्चल ध्यान नहीं पाता है, तब तक आवश्यकों से प्राप्त दोषों को काटना चाहिए ।

सम्यग्जिनागमं ज्ञात्वा प्रोक्ततद्ध्यानसाधनात् ।
क्षपकश्रेणिमारुह्य मुक्तेः सद्वा प्रपद्यते ।।६५१।।

१ दार्यै. ख. । २ प्राप्त ख । ३ त्रिशुद्ध्या ख. ।

भली-भांति जिनागम को जानकर कहे गए ध्यान की साधना से क्षपक श्रेणी पर चढ़कर मुक्ति गृह को प्राप्त करता है।

इति[1] षष्ठं[2] प्रमत्तगुणस्थानं।

अप्रमत्तगुणस्थानमतो वक्ष्ये समासतः।
भवन्त्यत्र त्रयो भावाः षट्स्थानोदिता यथा ॥६५२॥

अब संक्षेप में अप्रमत्त गुणस्थान को कहता हूं। यहां पर षट्स्थानों में कहे गए अनुसार तीन भाव होते हैं।

संज्वलनकषायाणां जाते मन्दोदये सति।
भवेत् प्रमादहीनत्वादप्रमत्तो महाव्रती ॥६५३॥

संज्वलन कषायों का मन्द उदय होने पर प्रमादहीन होने से महाव्रती होता है।

नष्टशेषप्रमादात्मा व्रतशीलगुणान्वितः।
ज्ञानध्यानपरो मौनी शमनक्षपणोन्मुखः ॥६५४॥

जिसके शेष प्रमाद नष्ट हो गए हैं, जो व्रत और शील गुणों से युक्त हैं, ज्ञान और ध्यान में तत्पर रहता है, मौनव्रत धारण करता है और कर्मों का शमन और क्षपण करने (नष्ट करने) की ओर उन्मुख है।

एकविंशतिभेदात्ममोहस्योपशमाय च।
क्षपणाय करोत्येष सद्ध्यानसाधनं यमी ॥६५५॥

---

१ इति ख-पुस्तके नास्ति। २ षष्ठं क-पुस्तके नास्ति।

इक्कीस भेद स्वरूप मोक्ष का उपशम और क्षय करने के लिए यह यमी सद्ध्यान करता है ।

मुख्यवृत्या भवत्यत्र धर्मध्यानं जिनोदितम् ।
तत्र तावद्भवेद् ध्याता ध्येयं ध्यानं फलं क्रमात् ॥६५६॥

मुख्य रूप से यहां जिनोक्त धर्मध्यान होता है । वहां पर क्रम से ध्याता, ध्येय, ध्यान और फल होते हैं ।

आहारासननिद्राणां विजयो यस्य जायते ।
पंच.नामिन्द्रियाणां च परीषहसहिष्णुता ॥६५७॥

जिसके आहार, आसन, निद्रा तथा पांच इन्द्रियों पर विजय होती है तथा परिषह सहन होते हैं ।

गिरीन्द्रइव निष्कम्पो गम्भीरस्तोयराशिवत् ।
अशेषशास्त्रविद्धीरो ध्याताऽसौ कथ्यते बुधैः ॥६५८॥

जो पर्वत के समान निष्कम्प होता है, जलराशि (समुद्र) के समान गम्भीर होता है, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता और धीर होता है, उसे विद्वान् ध्याता कहते है ।

यथावद्वस्तुनो रूपं ध्येयं स्यात् संयमसतां (मेशिनां) ।
एकाग्रचिन्तनम् ध्यानं चतुर्भेदविराजितम् ॥६५९॥

संयम के स्वामियों को वस्तु का यथावत् रूप ध्येय होता है । एकाग्रचिन्तन ध्यान होता है, जो कि चार भेदों से सुशोभित है ।

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् रूपर्वाजतम् ।
आद्यत्रयं तु सालम्बमन्त्यमालम्बनोज्झितम् ॥६६०॥

चार भेद हैं–पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत आदि के तीन सालम्बन है, अन्तिम निरालम्ब है।

पिण्डो देह इति तत्र[1] तत्रास्त्यात्मा चिदात्मकः।
तस्य चिन्तामयं सद्भिः पिण्डस्थं ध्यानमीरितम् ॥६६१॥

पिण्ड देह है, उसमें आत्मा चिदात्मक है। सज्जनों ने उसके विचार को पिडस्थ ध्यान कहा है।

पंचानां सद्गुरुणां यत् पदान्यालंब्य चिन्तनम्।
पदस्थध्यानमाम्नातं ध्यानाग्निध्वस्तकल्मषैः ॥६६२॥

पंचपरमेष्ठी (सद्गुरू) के पदों का आलम्बन लेकर जो चिन्तन किया जाता है। ध्यानाग्नि के द्वारा पापों को नष्ट करने वालों ने उसे पदस्थ ध्यान कहा है।

आत्मा देहस्थितो यद्वच्चिन्त्यये देहतोबहिः।
तद् रूपस्थं स्मृतं ध्यानं भव्यराजीव भास्करैः ॥६६३॥

देह में स्थित आत्मा का जिसमें देह से बाहर आत्मा का चिन्तन किया जाता है, भव्य जीवों रूपी कमलों के लिए सूर्य के तुल्य भगवान जिनेन्द्र देव ने उसे रूपस्थ ध्यान कहा है।

ध्यानत्रयेऽत्र सालंबे कृताभ्यासः पुनः पुनः।
रूपातीतं निरालम्बं ध्यातुं प्रक्रमते यतिः ॥६६४॥

इन तीन प्रकार के सालम्बन ध्यानों का जिससे पुनः पुन. अभ्यास किया है, ऐसा यति निरालम्बन रूपातीत ध्यान का उपक्रम करता है।

---

१ 'इतिस्तलस्तत्रा' इति क–पुस्तके ख–पुस्तके तु इति स्तोत्रस्तत्रा इति पाठः।

इन्द्रियाणि विलीयन्ते मनो यत्र लयं व्रजेत् ।
ध्यातृध्येयविकल्पे न तद्ध्यानं रूपवर्जितम् ।।६६५।।

जहाँ पर इन्द्रियां विलीन होती हैं, जहां पर मन विलय हो जाता ,है जहाँ पर ध्याता और ध्येय का विकल्प नहीं होता है, वह ध्यान रूपरहित (रूपातीत) होता है ।

अमूर्तमजमव्यक्तं निर्विकल्पं चिदात्मकम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं रूपातीतं च तद्विदुः ।।६६६।।

जो अमूर्त है, अजन्मा है, अव्यक्त है, निर्विकल्प है और चिदात्मा है, जहाँ आत्मा के द्वारा आत्मा का स्मरण किया जाता है, उस ध्यान को रूपातीत कहते हैं ।

रूपातीतमिदं ध्यानं ध्यानन् योगी समाहितः ।
चराचरमिदं विश्वं क्षोभयत्यखिलं क्षणात् ।।६६७।।

रूपातीत इस ध्यान को ध्याता हुआ समाहित चित्त योगी क्षणभर में चराचर इस समस्त विश्व को क्षुब्ध कर देता है ।

सिद्धयोऽप्यणिमाद्याश्च सिद्ध्यन्ति स्वयमेव हि ।
मुक्तिस्त्रीवश्यतां याति योगिनस्तस्य निश्चितम् ।।६६८।।

अणिमादि सिद्धियां स्वयं सिद्ध हो जाती है और उस योगी को निश्चित रूप से मुक्ति रूपी लक्ष्मी पशवर्ती हो जाती है ।

इत्येतस्मिन् गुणस्थाने नो सन्त्यावश्यकानि षट् ।
संततध्यान सद्योगाद् बुद्धिः स्वाभाविकी यतः ।।६६९।।

इस प्रकार इस गुणस्थान में छह आवश्यक नहीं होते हैं, क्योंकि निरन्तर सद्ध्यान के योग से स्वभाविकी बुद्धि होती है।

अप्रमत्तं गुणस्थानं संक्षेपेणेह वर्णितम् ।
अतो वक्ष्येऽष्टमं स्थानं श्रेणिद्वयसमाश्रितम् ।।६७०।।

यहां पर अप्रमत्त गुणस्थान का संक्षेप में वर्णन किया। अनन्तर अष्टम गुणस्थान का कथन करूंगा जो कि दो श्रेणियों के आश्रित होता है।

इति सप्तमप्रमत्त गुणस्थानम् ।

अतोऽपूर्वादिनामानि गुणस्थानान्युदीरयेत् ।
भवत्युपशम श्रेणी येभ्यश्च क्षपकावलिः ।।६७१।।

अब यहां से अपूर्वादि गुणस्थानों का कथन किया जाता है, जिनसे उपशम और क्षपक श्रेणी होती है।

तत्रापूर्वगुणस्थानमपूर्वगुणसम्भवात् ।
भावानामनिवृत्तित्वादनिवृत्तिगुणास्पदम् ।।६७२।।

अपूर्व गुण की उत्पत्ति के कारण अपूर्व गुणस्थान होता है। भावों की निवृत्ति न होने से अनिवृत्ति गुणस्थान होता है।

अस्तित्वात्सूक्ष्मलोभस्य भवेत्सूक्ष्मकषायकम् ।
प्रशान्तरागयुक्तत्वादुपशान्तकषायकम् ।।६७३।।

सूक्ष्म लोक के अस्तितत्व से सूक्ष्म कषाय से सूक्ष्म कषाय हो जाती है। प्रशान्त राग से युक्त होने से उपशान्त कषाय होता है।

तत्रापूर्वगुणस्थाने प्रथ[1]मांशे प्रजायते ।
बन्धविच्छेदनं सम्यङ्ग् निद्राप्रचलयोर्द्वयोः ॥६७४॥

अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग में निद्रा और प्रचला दो प्रकृतियों की भले प्रकार बन्धव्युच्छित्ति होती है ।

आरोहति ततः श्रेणिमादिमामुपशामकः[2] ।
सत्यायुष्युपशान्त्याप्तिं प्राप्येद्वृत्तमोहनम् ॥६७५॥

अनन्तर आदि की उपशम श्रेणी पर आरोहण करता है। आयुकर्म की उपशान्ति होने पर चारित्र मोह को प्राप्त करता है ।

क्षपकः क्षपयत्युच्चैश्चारित्रमोहपर्वतम् ।
आरुह्य क्षपक श्रेणिमुपर्युपरि शुद्धितः ॥६७६॥

क्षपक ऊपर-ऊपर अत्यधिक शुद्धि से क्षपक श्रेणि पर आरोहण करके चारित्र मोह रूपी पर्वत का क्षय करता है ।

प्रभवत्युपशम श्रेण्यां भावो ह्युपशमात्मकः ।
चारित्रं तद्विधं ज्ञेयं वृत्तमोहोपशान्तितः ॥६७७॥

उपशम श्रेणी में उपशमात्मक भावों को करने में समर्थ होता है। चारित्र मोह की उपशान्ति से औपशमिक चारित्र जानना चाहिए ।

स्यादुपशमसम्यक्त्वं प्रशमाद् दृष्टिमोहतः ।[1]
केषांचित् क्षायिकं प्रोक्तं दृष्टिघ्नकर्मणः क्षणात् ॥६७८॥

---

१ प्रथम भागे । २ गाः ख. ।

दर्शन मोह के प्रशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है। दर्शन का घात करने वाले कर्म के क्षय से किन्हीं के क्षायिक कहा गया है।

तत्राद्यं शुक्लसद्ध्यानं स ध्यायत्युपशामकः[1] ।
पूर्वज्ञः शुद्धिमान् युक्तो ह्याद्यैः संहननैस्त्रिभिः ॥६७९॥

वह उपशामक आदि के शुक्लध्यान (पृथक्त्ववितर्क) को ध्याता है। आदि के तीन संहनन का धारी वह पूर्वों का ज्ञाता और शुद्धियुक्त, होता है।

तद्ध्यानयोगतो योगी परां शुद्धिं प्रगच्छति ।
प्रापयन्नुपशान्ताप्तिं वृत्तमोहं महारिपुम् ॥६८०॥

चारित्रमोह रूपी महाशत्रु की उपशान्ति पाकर उस ध्यान के योग से योगी उत्कृष्ट शुद्धि को प्राप्त होता है।

वृत्तमोहोदयं प्राप्य पुनः प्रच्यवते यतिः ।
अधः कृतमलं तोयं पुनर्म्लानिं भवेद्यथा ॥६८१॥

चारित्रमोह के उदय को पाकर यति पुनः च्युत होता है। जिस प्रकार जिसका मल नीचे कर दिया है, ऐसा जल पुनः मलिन हो जाता है।

ऊर्ध्वमेकं च्युतौ वामं सप्तमं यान्ति देहिनः ।
इति त्रयमपूर्वाद्यास्त्रयो यान्त्युपशामकाः[2] ॥६८२॥

ऊपर एक के च्युत होने पर प्राणी उसके विपरीत सातवें को जाते हैं। इस प्रकार अपूर्वादि तीनों उपशामक होते हैं।

---

१ गः ख. । २ गाः ख. ।

उपशान्तकषायस्य न ह्यस्त्यूर्ध्वं गुणाश्रयः ।
ततोऽसौ वामतां याति सप्तमं वा गुणास्पदम् ।।६८३।।

उपशान्त कषाय के ऊर्ध्वगुण का आश्रय नहीं है । अतः यह विपरीत हो जाता है अथवा सप्तम गुणस्थान को चला जाता है ।

उपशान्तगुणश्रेण्यां येषां मृत्युः प्रजायते ।
अहमिन्द्रा भवन्त्यंते सर्वार्थे सिद्धिसद्मनि ।।६८४।।

उपशान्त गुण श्रेणी में जिनकी मृत्यु हो जाती है, वे सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र होते हैं ।

चतुर्वारं शमश्रेणिं रोहत्त्याश्रयते यमम् ।
द्वात्रिंशद्वारमाक्षीणकर्मांशा यान्ति निर्वृतिम् ।।६८५।।

चार बार उपशम श्रेणी पर आरोहण करते है, यम का आश्रय लेते है । बत्तीस बार में कर्मों के अंश को पूरी तरह क्षीणकर मोक्ष चले जाते है ।

आ[1]संसारं चतुर्वारमेव स्याच्छमनोवला ।
जीवस्यैकभवे वारद्वयं सा यदि जायते ।।६८६।।

जीव के एक भव में यदि उपशम श्रेणी दो बार हो जाती है तो जब तक संसार है, तब तक उपशम श्रेणी चार बार होती है ।

उक्तं चान्यत्र ग्रन्थान्तरे—दूसरे ग्रन्थ में कहा है—

---

१ श्लोकोऽयं नास्ति ख–पुस्तके ।

चत्तारिवारमुवसमसेढिं समरुहदिखविदकम्मंसो ।
वत्तीसं वराइं संजम गहदि[1] पुणो लहदि णिव्वाणं ॥१॥

इत्यु[2]पशमश्रेणिगुणस्थानचतुष्टयम् ।

अतो वक्ष्ये समासेन क्षपकश्रेणीलक्षणम् ।
योगी कर्मक्षयं कर्तुं यामारुह्य प्रवर्तते ॥६८७॥

अनन्तर संक्षेप में क्षपक श्रेणि का लक्षण कहता हूं । जिस पर चढ़कर योगी कर्मक्षय करने में प्रवृत्त होता है ।

आयुर्बन्धविहीनस्य क्षीणकर्मांशदेहिनः ।
असंयत गुणस्थाने नरकायुः[3] क्षयं व्रजेत् ॥६८८॥

आयुकर्म के बन्ध से रहित, क्षीणकर्मांश जीव की असंयत गुणस्थान नरकायु क्षय हो जाती है ।

तिर्यगायुः क्षयं याति गुणस्थाने तु पंचमे ।
सप्तमे त्रिदशायुश्च दृष्टिमोहस्य सप्तकम् ॥६८९॥

पांचवें गुणस्थान में तिर्यंचायु क्षय हो जाती है । सातवें में देवायु तथा दर्शनमोह की सात प्रकृतियाँ क्षय हो जाती है ।

एतानि दश कर्माणि क्षयं नीत्वाथ शुद्धधीः ।
धर्मध्याने कृताभ्यासः समारोहति तत्पदम् ॥६९०॥

शुद्ध बुद्धि वाला इन दश कर्मों का क्षय कर धर्मध्यान का अभ्यास करता हुआ उस पद पर (क्षपक श्रेणी पर) आरोहण करता है ।

---

१ प्राकृतपंचसंग्रहे तु "संजममुवलहिय णिव्वादि" इति पाठः । २ इति ख-पुस्तके नास्ति । ३ बन्धाभावादयत्न साध्य एतदायुः क्षयोऽत्र ।

मुख्यत्वेनेह साधूनां भावो हि क्षायिको मतः ।
सम्यक्त्वं क्षायिकं शुद्धं दृष्टिमोहारिसंक्षयात् ॥६६१॥

इस श्रेणी में मुख्य रूप से साधुओं का क्षायिक भाव माना गया है। दर्शनमोह का क्षय हो जाने से शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

तत्रापूर्वगुणस्थाने शुक्लसद्ध्यानमादिमम् ।
ध्यातुं प्रक्रमते साधुराद्यसंहननान्वितः ॥६६२॥

अपूर्व गुणस्थान में आदि संहनन से युक्त साधु आदि शुक्लध्यान का उपक्रम करता है।

ध्यानस्य विघ्नकारीणि त्यक्त्वा स्थानान्यशेषतः ।
विशुद्धानि मनोज्ञानि ध्यानसिद्धयर्थमाश्रयेत् ॥६६३॥

ध्यान में विघ्न करने वाले स्थानों को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर ध्यान की सिद्धि के लिए विशुद्ध मनोज्ञ स्थानों का आश्रय लेना चाहिये।

निष्प्रकम्पं विधायाथ दृढ़ं पर्यंकमासनम् ।
नासाग्रे दत्तसन्नेत्र किंचिन्निमीलितेक्षणः ॥६६४॥

विकल्पवागुराजालाद्दूरोत्सारितमानसः ।
संसारच्छेदनोत्साहः स योगी ध्यातुमर्हति ॥६६५॥

विकल्प की रस्सी से मन दूर निकालकर संसार का उच्छेदन करने का उत्साही वह योगी ध्यान करने के योग्य होता है।

अपान द्वारमार्गेण निःसरतं यथेच्छया[1] ।
निरुद्धचोर्ध्वप्रचाराप्तिं प्रापयत्यनिलं मुनिः ॥६६६॥

---

१ यह. ख. ।

अपान द्वार मार्ग से अपनी इच्छा के अनुसार निकलते हुए ऊपर की ओर गमन करना रोककर मुनि वायु को प्राप्त करता है।

द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं समाकृष्य समीरणम्।
पूरयत्यतियत्नेन पूरकध्यानयोगतः ॥६९७॥

द्वादश अङ्गुल पर्यन्त वायु को खींचकर पूरक ध्यान के अत्यन्त यत्नपूर्वक भरता है।

कुम्भवत्कुम्भकं योगी श्वसनं नाभिपंकजे।
कुम्भक ध्यानयोगेन सुस्थिरं कुरुतेक्षणम् ॥६९८॥

कुम्भ के समान कुम्भक योगी नाभिकमल में श्वास को कुम्भक ध्यान के योग से क्षणभर सुस्थिर करता है।

निसार्यंते ततो यत्नान्नाभिपद्मोदराच्छनैः।
योगिना योगसामर्थ्याद्रेचकाख्यः प्रभंजनः ॥६९९॥

अनन्तर धीरे से योगी यत्नपूर्वक नाभिकमल के मध्य से योग की सामर्थ्य से रेचक नामक वायु निकालता है।

इत्येवं गन्धवाहानामाकंकुचनविनिर्गमौ।
संसाध्य निश्चलं धत्ते चित्तमेकाग्रचिन्तने ॥७००॥

इस प्रकार वायु के सिकोड़ने और निर्गम को भली-भाँति सिद्धकर योगी एकाग्रचिन्तन में चित्त को निश्चल बनाता है।

सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम्।
त्रियोगयोगिनः साधोः शुक्लमाद्यं सुनिर्मलम् ॥७०१॥

त्रियोग योगी साधु के आदि सुनिर्मल सवितर्क सपृथक्त्व कहा गया है ।

श्रुतं चिन्ता वितर्कः स्याद्वीचारः संक्रमो मतः ।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवत्येतत्त्रयात्मकम् ॥७०२॥

श्रुत चिन्ता या वितर्क है, वीचार संक्रम माना गया है, पृथक्त्व अनेकत्व होता है, इस प्रकार यह त्रयात्मक होता है ।

तद्यथा—

स्वशुद्धात्मानुभूत्यात्मभावा[1]नामवलंबनात् ।
अन्तर्जल्पो वितर्कः स्याद्यस्मिंस्तत्सवितर्कज[2]म् ॥७०३॥

जिसमें अपनी शुद्धात्मानुभूति से आत्मभावों के अवलम्बन से अन्तर्जल्प वितर्क होता है, वह सवितर्कज होता है ।

अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः ।
योगाद्योगान्तरे यत्र सवीचारं तदुच्यते ॥७०४॥

जहां पर अर्थ से अर्थान्तर, शब्द से शब्दान्तर और योग से योगान्तर में संक्रमण होता है, वह सवीचार कहा जाता है ।

द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति गुणाद्गुणान्तरं व्रजेत् ।
पर्यायादन्यपर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥७०५॥

द्रव्य से द्रव्यान्तर, गुण से गुणान्तर तथा एक पर्याय से अन्य पर्याय की ओर जाता है, अतः सपृथक्त्व होता है ।

इति त्रयात्मकं ध्यानं ध्यायन् योगी समाहितः ।
संप्राप्नोति परां शुद्धिं मुक्तिश्रीवनितासखीम् ॥७०६॥

---

१ भावश्रुतावलम्बनात् ख. । २ जः क. ।

इस प्रकार समाहित होकर त्रयात्मक ध्यान को ध्याता हुआ उत्कृष्ट शुद्धि को प्राप्त कर लेता है, जो कि मुक्तिलक्ष्मी रूपी स्त्री की सखी है।

यद्यपि प्रतिपात्येतच्छुक्लध्यानं प्रजायते।
तथाप्यतिविशुद्धत्वादूर्ध्वास्पदं समीहते ॥७०७॥

यद्यपि यह शुक्लध्यान प्रतिपाती उत्पन्न होता है, तथापि अति विशुद्ध होने से ऊँचा स्थान प्राप्त करता है।

इत्यष्टमं क्षपकापूर्वकरण गुणस्थान ।

अनिवृत्तिगुणस्थानं ततः समधिगच्छति।
भावं क्षायिकमाश्रित्य सम्यक्त्वं च तथाविधम् ॥७०८॥

अनन्तर अनिवृत्ति गुणस्थान को प्राप्त होता है। क्षायिक भाव का आश्रय कर क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

गुणस्थानस्य तस्यैव भागेषु नवसु क्रमात्।
नश्यन्ति तानि कर्माणि तेनैव ध्यानयोगतः ॥७०९॥

उस गुणस्थान के ही नव भागों में क्रम से उसी ध्यानयोग से वे कर्म नष्ट हो जाते हैं।

गतिः श्वाभ्री च तैरश्ची तच्चानुपूर्विकाद्वयम्।
साधारणत्वमुद्योतः सूक्ष्मत्वं विकलत्रयम् ॥७१०॥

एकेन्द्रियत्वमातापस्त्यानगृद्ध्यादिकत्रयम।
आद्यांशे स्थावरत्वेन सहितान्येतानि षोडश ॥७११॥

अष्टौ मध्यकषायाश्च द्वितीयेऽथ तृतीयके।
षंढत्वं तुर्यके स्त्रीत्वं नोकषायाषट्पंचमे ॥७१२॥

पुंवेदश्च ततः क्रोधो मानो माया विनिश्चयति ।
चतुर्ष्वंशेषु शेषेषु यथाक्रमेण निश्चितम् ॥७१३॥

कर्माण्येतानि षट्त्रिंशत्क्षयं नीत्वा तदन्तिमे ।
समये स्थूललोभस्य सूक्ष्मत्वं प्रापयेन्मुनिः ॥७१४॥

आदि अंश में स्थावर सहित नरक गति, तिर्यञ्चगति, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, साधारण, उद्योत, सूक्ष्मत्व, विकलेन्द्रिय, एकेन्द्रियत्व, आतप, स्त्यानगृद्धि आदि तीन । इस प्रकार सोलह, दूसरे तथा तीसरे में मध्य की आठ कषायें, चौथे में नपुंसकत्व, पांचवें में स्त्रीत्व, छह नोकषायें, शेष चार अंशों में पुंवेद, क्रोध, मान, माया यथाक्रम नष्ट होती हैं, यह निश्चित है । इन ३६ कर्मों का क्षय कर उसके अन्त समय में मुनि स्थूल लोभ को सूक्ष्म कर देता है ।

इति नवमं क्षपकानिवृत्ति गुणस्थानम् ।

आरोहति ततः सूक्ष्मसांपरायगुणास्पदम् ।
सूक्ष्मलोभं निगृह्णाति तत्रासावाद्यशुक्लतः ॥७१५॥

अनन्तर सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान पर आरोहण करता है । वहाँ पर वह आदि शुक्लध्यान से सूक्ष्मलोभ को पकड़ता है ।

इति दशमं क्षपकसूक्ष्म कषायगुणस्थानम् ।

भूत्वाथ क्षीणमोहात्मा वीतरागो महाद्युति ।
पूर्ववद्भावसंयुक्तो द्वितीयं ध्यानमाश्रयेत् ॥७१६॥

अनन्तर क्षीण मोहस्वरूप, वीतराग, महाद्युति, पहले के समान भाव से संयुक्त होकर द्वितीय ध्यान का आश्रय लेता है।

अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कगुणान्वितम् ।
संध्यायत्येकयोगेन शुक्लध्यानंद्वितीयकम् ॥७१७॥

एक योग से सवितर्क गुण से युक्त अपृथक्त्व अवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यान को भली-भाँति ध्याता है।

तद्यथा—

यद्द्रव्यगुणपर्यायपरावर्त विवर्जितम् ।
चिन्तनं तदवीचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः ॥७१८॥

जो द्रव्य, गुण और पर्याय के परिवर्तन से रहित चिन्तन है; उसे सद्ध्यान के ज्ञाताओं ने अवीचार माना है।

निजशुद्धात्मनिष्ठत्वाद् भावश्रुतावलम्बनात् ।
चिन्तनं क्रियते यत्र सवितर्कस्तदुच्यते ॥७१९॥

निज शुद्धात्मा में निष्ठता होने से भावश्रुत का अवलम्बन करने के कारण जहाँ चिन्तन किया जाता है, वह सवितर्क कहलाता है।

निजा[1]त्मद्रव्यमेकं वा पर्यायमथवा गुणम् ।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥७२०॥

एक निजात्म द्रव्य को पर्याय को अथवा गुण को जहां निश्चल होकर चिन्तन किया जाता है, उसे विद्वानों ने एकत्व कहा है।

---

१ श्लोकोऽयं ७१८ श्लोकात्पूर्वं ख-पुस्तके ।

इत्येकत्वमवीचारं सवितर्कमुदाहृतम् ।
तस्मिन् समरसीभावं धत्ते स्वात्मानुभूतितः ।।७२१।।

इस प्रकार एकत्व अवीचार सवितर्क के विषय में कहा है । उसमें स्वात्मानुभूति से समरसीभाव धारण करता है ।

इत्येतद्ध्यानयोगेन प्रो[1]ष्यत्कर्मेन्धनोत्करम् ।
निद्रा प्रचलयोर्नाशं करोत्युपान्तिमक्षणे ।।७२२।।

इस प्रकार ध्यानयोग से कर्म रूपी ईन्धन के समूह को जलाकर अन्तिम क्षण के पूर्व निद्रा और प्रचला का नाश करता है ।

अन्त्ये दृष्टिचतुष्कं च दशकं ज्ञानविघ्नयोः ।
एवं षोडसकर्माणि क्षयं गच्छत्यशेषतः ।।७२३।।

अन्त में चार दर्शन तथा ज्ञान और अन्तराय के दशक इस प्रकार षोडस कर्म सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाते हैं ।

एतत्कर्मरिपून हत्वाः क्षीणमोहो मुनीश्वरः ।
उत्पाद्य केवलज्ञानं सयोगी समभूत्तदा ।।७२४।।

इन कर्म रूपी शत्रुओं को मारकर क्षीणमोह मुनीश्वर केवलज्ञान को उत्पन्न कर सयोगी हो जाते हैं ।

इति द्वादशं क्षीणकषाय गुणस्थानम् ।

ततस्त्रयोदशे स्थाने देवदेवः सनातनः ।
राजते ध्यानयोगस्य फलादेवाप्तवैभवः ।।७२५।।

---

१ प्लुष्यकर्म. ख. ।

अनन्तर तेरहवें गुणस्थान में देवों का देव, सनातन, प्राप्तवैभव, ध्यानयोग के फल से ही सुशोभित होता है।

भावोऽत्र क्षायिकः शुद्धः सम्यक्त्वं क्षायिकं परम्।
यथाख्यातं हि चारित्रं निर्ममत्वस्य जायते ॥७२६॥

यहां पर निर्ममत्व के शुद्धक्षायिक भाव, परम क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होता है।

यदौदारिकमङ्गं तु सप्तधातुसमन्वितम्।
अन्यथा तद्भूत्तस्मात्परमौदारिकं स्मृतम् ॥७२७॥

सप्त धातु से युक्त जो औदारिक शरीर था, वह अन्य प्रकार का हो जाता है, अतः उसे परमौदारिक कहा है।

तेजोमूर्तिमयं दिव्यं सहस्त्रार्कसमप्रभम्।
विनष्टाङ्गप्रतिच्छायं नष्टकेशादिवर्धनम् ॥७२८॥

यह शरीर तेजोमूर्ति, दिव्य तथा हजारों सूर्यों की आभा के समान आभा वाला हो जाता है। उसके शरीर की छाया नहीं पड़ती है तथा केशों आदि का बढ़ना रुक जाता है।

यदार्हन्त्यं पदं प्राप्य देवेशोदेवपूजितः।
जन्ममृत्युजरातङ्कविच्युतः प्रभवत्यसौ ॥७२९॥

आर्हन्त्य पद को पाकर देवपूजित देवेश होता है। वह जन्म, मृत्यु, जरा और रोग से रहित हो जाता है।

ज्ञानदृष्टयावृतेस्त्यागात्केवलज्ञानदर्शने।
उदयं प्राप्नुतस्तस्य जिनेन्द्रस्यातिनिर्मले ॥७३०॥

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के त्याग से उन जिनेन्द्र के केवलज्ञान और केवलदर्शन उदय को प्राप्त हो जाते हैं।

अनन्तसुखसम्भूतिर्जाता मोहारिसंक्षयात्।
विप्लवादन्तरायस्य कर्मणोऽनन्तवीर्यता ॥७३१॥

मोह रूपी शत्रु के क्षय होने से अनन्त सुख की उत्पत्ति होती है। अन्तराय कर्म के विनाश से अनन्तवीर्यता हो जाती है।

चराचरमिदं विश्वं हस्तस्थामलकोपमम्।
प्रत्यक्षं भासते तस्य केवलज्ञान भास्वतः ॥७३२॥

उसे केवलज्ञान के प्रकाश से चराचर यह विश्व हाथ में रखे हुए आँवले की तरह प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है।

विशुद्धं दर्शनं ज्ञानं चारित्रं भेदवर्जितम्।
प्रयक्तं समभूत्तस्य जिनेन्द्रस्यामितद्युतेः ॥७३३॥

समतायुक्त उन जिनेन्द्र के अपरिमितकान्ति के भेद से रहित दर्शन, ज्ञान और चारित्र अभिव्यक्त होते हैं।

द्विकलं—

प्रातिहार्याष्टकोपेतः सर्वातिशयभूषितः।
मुनिवृन्दैः समाराध्यो देवदेवार्चितक्रमः ॥७३४॥

विहरन् सकलां पृथ्वीं भव्यवृन्दान् विबोधयन्।
कुर्वन् धर्मामृतासा[1]रं राजते देवसंसदि ॥७३५॥

---

१ वर्षा।

आठ प्रातिहार्यों से युक्त, समस्त आतिशयों से भूषित, मुनियों के समूह से आराधित, इन्द्रों के द्वारा पूजित चरण वाले वे समस्त पृथ्वी पर विहार करते हुए, भव्यों के समूह को प्रतिबोधित करते हुए, धर्म रूपी अमृत की वर्षा करते हुए देवसभा में सुशोभित होते हैं ।

कतिचिद्दिनशेषायुर्निष्ठाप्य यौगवैभवम् ।
अन्तर्मुहूर्तशेषायुस्ततृतीयं ध्यानमर्हति ॥७३६॥

कुछ दिन आयु शेष रह जाने पर योग वैभव का निरोधकर शेष आयु अन्तर्मुहूर्त रह जाने पर तृतीय शुक्लध्यान के योग्य होता है ।

षण्मा[1]सायुस्थितेरन्ते यस्य स्यात्केवलोद्गमः ।
करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥७३७॥

छह माह आयु की स्थिति के मध्य जिसके कैवल्य की उत्पत्ति होती है, वह समुद्घात करता है, अन्य समुद्घात करते हैं अथवा नहीं करते हैं ।

यस्यास्त्यघातिनां मध्ये किंचिन्न्यूनायुषः स्थिति ।
तत्समीकरणावाप्त्यै समुद्घाताय चेष्टते ॥७३८॥

जिसकी अघातिकर्मो के मध्य आयुकर्म की किंचित् न्यून स्थिति है, वह समीकरण की प्राप्ति के लिए समुद्घात हेतु चेष्टा करता है ।

---

१ षण्मासायुषि शेषे संवृता ये जिनाः प्रकर्षेण ।
ये यान्ति समुद्घातं शेषा भाज्याः समुद्घाते ॥१॥

दण्डाकारं कपाटात्म्यं प्रतरात्म्यं ततोजगत् ।
पूरणं कुरुते साक्षाच्चतुर्भिः समयैर्द्रुतं ॥७३६॥

चार समयों में वह शीघ्र दण्डाकार, कपाटाकार, प्रतराकार तथा लोक पूरण करता है ।

युगलं—

एवमात्मप्रदेशानां प्रसारणविधानतः ।
आयुः समानि कर्माणि कृत्वा शेषाणि तत्क्षणे ॥७४०॥

ततो निवर्तते तद्वल्लोकपूरणतःक्रमात् ।
चतुर्भिः समयैरेव निर्विकल्पस्वभावतः ॥७४१॥

इस प्रकार आत्मप्रदेशों के प्रसारण के भेदों से तत्क्षण शेष कर्मों को आयुकर्म के समान करके अनन्तर क्रम से उसी प्रकार लोक पूरण से चार समयों में ही निर्विकल्प स्वभाव से लौटता है ।

समु[1]द्घातस्य तस्याद्येऽष्टमे वा समये मुनिः ।
औदारिकाङ्गयोगः स्याद्द्विषट्सप्तकेषु तु ॥७४२॥

अथवा समुद्घात के आठ समयों में दो, छह तथा सातवें में औदारिक अङ्ग का योग होता है ।

मिश्रौदारिकयोगी च तृतीया[2]द्येषु तु त्रिषु ।
समयेष्वेककर्माङ्गधरोऽनाहारकश्च सः ॥७४३॥

---

१ ७४२-४३-४४ एतच्छलोक त्रयं. ख-पुस्तके नास्ति । २ तृतीय चतुर्थ पंचमेषु त्रिषु समयेषु कार्मणकाययोगो ।

तृतीय, चतुर्थ और पाँचवें, इन तीन समयों में औदारिक मिश्र योगी होता है। एक समय में कर्म रुपी शरीर का धारी वह अनाहारक होता है।

समुद्घातान्निवृत्तोऽथ शुक्लध्यानं तृतीयकम्।
सूक्ष्मक्रियं प्रपातित्ववर्जितं ध्यायति क्षणं ॥७४४॥

अनन्तर समुद्घात से निवृत्त होकर क्षणभर प्रपातित्व से रहित सूक्ष्म क्रिया नामक तृतीय शुक्लध्यान का ध्यान करता है।

ध्यातुं विचेष्टते तस्माच्छुक्लध्यानं तृतीयकम्।
सूक्ष्मक्रियाभिधं शुद्धं प्रतिपातित्ववर्जितम् ॥७४५॥

वहां से प्रतिपातित्व से रहित शुद्ध सूक्ष्म क्रिया नामक तृतीय शुक्लध्यान को ध्याने की चेष्टा करता है।

आत्मस्पन्दात्मयोगानां क्रिया सूक्ष्माऽनिर्वातिका।
यस्मिन् प्रजायते साक्षात्सूक्ष्मक्रियानिवर्तकम् ॥७४६॥

जिसमें आत्मस्पन्दात्मक योगों की सूक्ष्म अनिर्वातिका क्रिया उत्पन्न होती है, वह साक्षात् सूक्ष्म क्रिया निवर्तक है।

बादरकाययोगेऽस्मिन् स्थितिं कृत्वा स्वभावतः।
सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥७४७॥

स्वभावतः इस बादरकाययोग में स्थिति को करके वह बादर वचन और मन के योग युग्म को सूक्ष्म करता है।

त्यक्त[1]वा स्थूलं वपुर्योगं सूक्ष्म वाक्चित्तयोः स्थितम्।
कृत्वा नयति सूक्ष्मत्वं काययोगं च बादरम् ॥७४८॥

---

१ श्लोकोऽयं ख–पुस्तकाग्दतः।

स्थूल काययोग को छोड़कर, सूक्ष्म वचन और मनोयोग में स्थिति को करके वह बादर काययोग को भी सूक्ष्म करता है।

स सूक्ष्मे काययोगेऽथ स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणम्।
निग्रहं कुरुते सद्यः सूक्ष्मवाक्चित्तयोगयोः ॥७४९॥

अनन्तर वह सूक्ष्म काययोग में स्थिति को करके पुनः क्षणभर में सूक्ष्म वाक्योग और मनोयोग के योग को शीघ्र निग्रह करता है।

ततः सूक्ष्मे वपुर्योगे स्थितिं कृत्वा क्षणं हि सः।
सूक्ष्मक्रियं निजा[1]त्मानं चिद्रूपं चिन्तयेज्जिनः ॥७५०॥

अनन्तर सूक्ष्म काययोग में स्थिति करके वह जिन क्षणमात्र के लिये सूक्ष्म क्रिया वाली निजात्मा के चिद्रूप का विचार करता है।

ध्यानध्येयादिसंकल्पैर्विहीनस्यापि योगिनः।
विकल्पातीत भावेन प्रस्फुरत्यात्मभावना ॥७५१॥

ध्यान, ध्येय आदि संकल्पों से विहीन भी योगी के विकल्पातीत भाव से आत्मभावना प्रस्फुरित होती है।

अन्ते तद्ध्यानसामर्थ्याद्वपुर्योगे स सूक्ष्मके।
तिष्ठन्नूर्ध्वास्पदं शीघ्रं योगातीतं समाश्रयेत् ॥७५२॥

---

१ जिनात्मानं ख.।

अन्त में उस ध्यान की सामर्थ्य से सूक्ष्म काययोग में स्थित रहता हुआ शीघ्र योगातीत ऊर्ध्व स्थान का आश्रय लेता है।

इति त्रयोदशं सयोगिगुणस्थानम्।

अथोयोगिगुणस्थाने तिष्ठतोऽस्य जिनेशिनः।
लघुपंचाक्षरोच्चारप्रमितावस्थितिर्भवेत् ॥७५३॥

अनन्तर अयोगि गुणस्थान में ठहरते हुए इस जिनेश्वर की लघु पंच अक्षरों के उच्चारण के परिमाण स्थित होती है।

तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं समुच्छिन्नक्रियात्मकम्।
चतुर्थं वर्तते ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥७५४॥

वहां पर अनिवृत्ति शब्दान्त समुच्छिन्न क्रियात्मक अयोगी परमेष्ठी का ध्यान होता है।

समुच्छिन्नक्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिका यतः।
समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद्द्वारं मुक्तिसद्मनः ॥७५५॥

जहां पर सूक्ष्म योगात्मिका समुच्छिन्न क्रिया हो, वह समुच्छिन्न क्रिया कहा गया है। वह मुक्ति रुपी घर का द्वार है।

देहास्तित्वेऽस्त्ययोगित्वं कथं तद्घटते प्रभोः।
देहाभावे कथं ध्यानं दुर्घटं घटते कथम् ७५६॥

देह का अस्तित्व होने पर अयोगीपना होता है। वह प्रभु के कैसे घटित होता है। देह का अभाव होने पर दुर्घट-ध्यान कैसे घटता है।

द्विकलं—

अतिसूक्ष्मशरीरस्य ह्युपान्त्यसमयावधेः ।
कायकार्यस्य सूक्ष्मस्य स्वशक्तिविगतात्मनः ॥७५७॥

अत्यन्तस्वल्पकालेन भाविप्रक्षयसंस्थि[1]तेः ।
अकिंचित्करसामर्थ्यात्तस्मादयोगिता मता ॥७५८॥

स्वशक्ति से रहित अत्यन्त सूक्ष्म शरीर की उपान्त्य समयावधिरुप सूक्ष्मकाय कार्य की अत्यन्त स्वल्पकाल से भाविक्षय रुप स्थिति होने से अकिंचित्कर सामर्थ्य के कारण अयोगिता मानी गई है ।

तच्छरीराश्रयाद्ध्यानमस्तीति न विरुद्ध्यते ।
निजशुद्धात्मचिद्रूपनिर्भरानन्द शालिनः ॥७५९॥

निजशुद्धात्मचिद्रूपनिर्भरानन्दशाली के तत् शरीर के आश्रय से ध्यान होता है, यह बात विरोधी नहीं है ।

आत्मानमत्यानात्मैवं ध्याता ध्यायति तत्वतः ।
उपचारस्तदा[2]न्यो हि व्यवहारनयाश्रयः ॥७६०॥

तात्विक रुप से आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मरुप ध्याता ही ध्याता है । अन्य का उपचार व्यवहारनय के आश्रय से किया जाता है ।

उपान्त्तसमये तत्र तच्छुद्धात्मप्रचिन्तनात् ।
द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्माण्येतान्ययोगिनः ॥७६१॥

वहाँ उपान्त समय में उस शुद्धात्मा के उत्कृष्ट चिन्तन से से अयोगी के ७२ कर्म प्रकृत्तियों का विलय हो जाता है ।

---

१ संस्थितं । २ द. ख. ।

देहबन्धनसंघाताः प्रत्येकं पंच पंच च ।
आङ्गोपाङ्गत्रयं चैव षट्कं संस्थानसंज्ञकम् ॥७६२॥

वर्णाः पंच-रसा पंच षट्कं संहननात्मकम् ।
स्पर्शाष्टकं च गन्धौ द्वौ नीचानादेयदुर्भगम् ॥७६३॥

तथागुरुलघुत्वाख्यमुपघा[1]तोऽन्यथा[2] ततः ।
निर्मापणमपर्याप्तमुच्छ्वासंस्त्वयशस्तथा ॥७६४॥

विहायगमनद्वन्द्वं शुभस्थैर्यद्वयं पृथक् ।
गतिर्दैव्यानुपूर्वी च प्रत्येकं च स्वरद्वयम् ॥७६५॥

वेद्यमेकतरं चेति कर्मप्रकृतयः स्मृताः ।
स्वामिनो विघ्नकारिण्यो मुक्तिकान्तासमागमे ॥७६६॥

५ देह, ५ बन्धन, ५ संघात, ३ आङ्गोपाङ्ग, ६ संस्थान, ५ वर्ण, ५ रस, ६ संहनन, ८ स्पर्श, दो गन्ध, नीचगोत्र, अनादेय, दुर्भग, अगुरुलघु, उपघात, परघात, निर्माण, अपर्याप्त, उच्छ्वास, अयश, दो विहायोगति, शुभ, स्थैर्य, देवगत्यानुपूर्वी, प्रत्येक, सुस्वर, दुःस्वर, एक वेदनीय । ये कर्म प्रकृतियां मानी गई हैं जो कि स्वामी को मुक्तिरुपी स्त्री के समागम में विघ्न करने वाली थीं ।

अन्ते ह्येकतरं वेद्यमादेयत्वं च पूर्णताः ।
त्रसत्वं बादरत्वं च मनुष्यायुश्च सद्यशः ॥७६७॥

नृगतिश्चानुपूर्वी च सौभाग्यमुच्चगोत्रता ।
पंचाक्षं च तथा तीर्थकृन्नामेति त्रयोदश ॥७६८॥

---

1 घातता ख. । २ परघातनामकर्मेत्यर्थः ।

क्षयं नीत्वाथ लोकान्तं यावत्प्रयाति तत्क्षणे ।
ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वाद्धर्मद्रव्यसहायतः ।।७६९।।

अन्त में एक वेदनीय, आदेय, त्रसपना, बादरपना, मनुष्यायु, यश, सद्यश, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, सुभग, उच्चगोत्रता, पञ्चेन्द्रिय तथा तीर्थंकृत । इस प्रकार १३ प्रकृतियों का क्षयकर उसी क्षण लोकान्त को चला जाता है, क्योंकि जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है और उसके लोकान्त तक गमन में धर्मद्रव्य सहायक है ।

इत्येवंलब्धसिद्धत्वपर्यायाः परमेष्ठिनः ।
मुक्तिकान्ताघनाश्लेषसुखास्वादनलालसाः ।।७७०।।

इस प्रकार मुक्तिरुपी स्त्री से घने आलिंगन रुपी सुख के आस्वादन की लालसा वाले परमेष्ठी सिद्धपर्याय को प्राप्त होते हैं ।

गतिसिक्यक[1]मूषाया आकारेणोपलक्षिताः ।
किञ्चित्पूर्वांगतो न्यूनाः सर्वांगेषुघनत्वतः ।।७७१।।

मोमरहित मूस के बीच के आकार से उपलक्षित वे समस्त अंगों में घनत्व के कारण अपने पूर्व शरीर से कुछ न्यून होते हैं ।

ऊर्ध्वीभूता वसन्त्येते तनुवातान्तमस्तकाः ।
अभावाद्धर्मद्रव्यस्य परतो गतिर्वर्जिताः ।।७७२।।

तनुवातवलय के अन्तिम छोर पर ऊपर ये रहते हैं । आगे धर्मद्रव्य न होने से गति नहीं है ।

---

१ गतिसिक्थकमूषाय. ख. ।

ज्ञातारोऽखिलतत्वानां दृष्टारश्च कहेलया ।
गुणपर्यायियुक्तानां त्रैलोक्योदरवर्तिनाम् ॥७७३॥

त्रैलोक्य के मध्यवर्ती गुणपर्याय से युक्त समस्त तत्त्वों के वे एक ही समय में ज्ञाता दृष्टा होते हैं ।

विशुद्धा निश्चला नित्याः सम्यक्त्वाद्यष्टभिर्गुणैः ।
लोकमूर्ध्नि विराजन्ते सिद्धास्तेभ्यो नमोनमः ॥७७४॥

वे विशुद्ध हैं, निश्चल हैं, नित्य हैं और सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त होकर लोक के अग्रभाग पर सुशोभित होते हैं, उन सिद्धों को नमस्कार हो ।

चक्रिणामहमिन्द्राणां त्रकाल्यं यत्सुखं परम् ।
तदनन्तगुणं तेषां सिद्धानां समतात्मकम् ॥७७५॥

चक्रवर्ती और अहमिन्द्रों के तीनों कालों में जो उत्कृष्ट सुख हैं, उसका अनन्तगुणा उन समतात्मक सिद्धों के सुख हैं ।

यद्धयेयं यच्च कर्त्तव्यं यच्च साध्यं सुदुर्लभम् ।
चिदानन्दमयज्योतिर्जातास्ते तत्पदं स्वयम् ॥७७६॥

जो ध्येय है, जो कर्त्तव्य है और जो सुदुर्लभ साध्य है ऐसे चिदानन्द मय ज्योति स्वरूप पद स्वयं उनके उत्पन्न हुआ है ।

किमत्र बहुनोक्तेन दुःसाध्यं ध्यानसाधनात् ।
नास्ति जगत्त्रये तद्धि तस्माद्धयानं प्रशस्यते ॥७७७॥

अधिक कहने से क्या ? ध्यान रूप साधन से तीनों लोकों में कुछ भी दुःसाध्य नहीं है । अतः ध्यान श्रेष्ठ है ।

ध्यानस्य फलमीदृक्षं सम्यग्ज्ञात्वा मुमुक्षुभिः ।
ध्यानाभ्यासस्ततः श्रेयान् यस्मानमुक्ति प्रगम्यते ॥७७८॥

ध्यान के ऐसे फल को भली प्रकार जानकर मुमुक्षुओं को ध्यान का अभ्यास श्रेयस्कर है, जिससे कि मोक्ष में चला जाता है ।

भूयादभव्यजनस्य विश्वमहितिः श्रीमूलसंघः श्रिये ।
यत्राभूद्विनयेन्दुरद्भुतगुणः सच्छीलदुग्धार्णवः ॥

तच्छिष्योऽजनि भद्रमूर्तिरमलस्त्रैलोक्यकीर्तिः शशी ।
येनैकान्तमहातमः प्रमथितं स्याद्वादविद्याकरैः ॥७७९॥

विश्व में प्रतिष्ठा प्राप्त श्री मूलसंघ भव्यजनों को कल्याणकारी हो, जिसमें अद्भूत गुणों वाले, उत्तम शील रूपी दुग्ध समुद्र वाले विनयचन्द्र हुए । उनके शिष्य तीनों लोकों में निर्मलकीर्ति वाले, चन्द्रमास्वरुप, भद्रमूर्ति उत्पन्न हुए, जिन्होंने स्याद्वादविद्यारुपी किरणों से एकान्तरुपी महान अन्धकार को नष्ट कर डाला ।

दृष्टिस्वस्तटिनीमहीधरपतिर्ज्ञानाब्धिचन्द्रोदयो ।
वृत्तश्रीकलिकेलिहेमनलिनं शान्तिक्षमामन्दिरम् ॥

कामं स्वात्मरसप्रसन्नहृदयः संगक्षपाभास्कर ।
स्तच्छिष्यः क्षितिमण्डले विजयते लक्ष्मीन्दुनामामुनिः ॥७८०॥

जो दृष्टि रुपी आकाशगंगा के लिए हिमालय थे, ज्ञानरुपी सागर के लिए चन्द्रोदय थे, चारित्र रुपी लक्ष्मी की कलियुग सम्बन्धी क्रीड़ा के लिए जो स्वर्णकमल थे, शान्ति के लिए क्षमा के मन्दिर थे, भली प्रकार जिनका हृदय निजात्मरस से

प्रसन्न था, आसक्तिरुपी रात्रि के लिए जो सूर्य थे, ऐसे उनके शिष्य लक्ष्मीचन्द्र मुनि पृथ्वीमण्डल पर विजयशील हों।

श्रीमत्सर्वज्ञपूजाकरणपरिणतस्तत्वचिन्तारसालो।
लक्ष्मीचन्द्रांह्रिपद्ममधुकरः श्रीवामदेवः सुधीः ॥

उत्पत्तिर्यस्य जाता शशिविशदकुले नैगमश्री विशाले।
सोऽयं जीयात्प्रकामं जगति रसलसद्भावशास्त्रप्रणेता॥७८१॥

(अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग) लक्ष्मी से युक्त सर्वज्ञ की पूजा करने में लगे हुए, तत्त्वचिन्तन के रसिक, लक्ष्मीचन्द्र के चरण-कमलों के भ्रमर सुधी श्री वामदेव हुए। वेदलक्ष्मी अथवा नैगमलक्ष्मी से विशाल, चन्द्रमा के समान निर्मलकुल में जिनकी उत्पत्ति हुई, संसार में रस से सुशोभित, भावशास्त्र के प्रणेता वे संसार में अत्यधिक रुप से जियें।

यावद्द्वीपाब्ध्यो मेरुर्यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
तावद्वृद्धिं प्रयात्युच्चैर्विशदं जैनशासनम् ॥७८२॥

जब तक द्वीप, समुद्र और मेरु हैं, जब तक सूर्य और चन्द्रमा हैं तब तक अत्यधिक रुप से विशद जैनशासन वृद्धि को प्राप्त हो।

इति चतुर्दशमयोगि गुणस्थानम्।

इति श्री मद्वानदेव पण्डित विरचितः भावसंग्रहः समाप्तः।

समाप्त